● श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ●

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः ।

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मासुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो,श्रम व्यर्थ सभी,केवल बंधनकर॥

वर्ष १० | गौराब्द ४७८, मास—वामन २१, वार-कारणोदशायी
बृहस्पतिवार, ३२ आषाढ़, सम्वत् २०२१, १६ जुलाई १९६४ | संख्या १-२

श्रीश्रीगौराङ्ग स्तवकल्पतरुः

[श्रीश्रील रघुनाथदास गोस्वामी-प्रभुवरेण विरचितः]

गतिं दृष्ट्वा यस्य प्रमद-गजवर्योऽखिल जना मुखञ्च श्रीचन्द्रोपरि दधति थुत्कार-निवहं ।
स्वकान्त्या यः स्वर्णाचलमधरयच्छीघुच वच स्तरंगं गौराङ्गो हृदय उदयन्मां मदयति ॥१॥

अलंकृत्यात्मनं नव-विविध-रत्नैरिव वलद्-विवर्णत्व-स्तंभास्पुट-वचन-कम्पाश्रु-पूलकैः ।
हसन स्विद्यन्नृत्यन् शितिगिरिपते निर्भरमुदे पुरः श्रीगौराङ्गो हृदय उदयन्मां मदयति ॥२॥

रसोल्लासैस्तिर्यग् गतिभिरभितो वारिभिरलं दृशोः सिञ्चल्लोकान्करुण-जलयंत्रत्वमितयोः ।
मुदा दन्तैर्दंष्ट्वा मधुरमधरं कम्पचलितै-र्नटन श्रीगौराङ्गो हृदय उदयन्मां मदयति ॥३॥

क्वचिन्निम्नावासे व्रजपति-सुतस्योरु-विरहात् श्लथच्छ्वासन्यित्वाद्वधदधिक-धैर्य्यं भुजपदोः ।
लुठन् भूमौ काक्वा विकल-विकलं गद्गदवचा रुदन् श्रीगौरांगो हृदय उदयन्मां मदयति ॥४॥

अनुद्घाट्य द्वारत्रयमुरु च भित्तित्रयमहो विलंघ्योच्चैः कालिङ्गिक-सुरभि-मध्ये निपतितः ।
तनूत्व-संकोचात् कमठ इव कृष्णोरु-विरहाद-विराजन् गौराङ्गो हृदय उदयन्मां मदयदि ॥५॥

स्वकीयस्य प्राणार्बुद-सदृश-गोष्ठस्य विरहात्, प्रलापानुन्मादात् सतत-मति कुर्वन् विकल-धीः ।
दधद्भूतो शाश्वद्वदन-विधु-घर्षेण रुधिरं क्षतोत्थं गौराङ्गो हृदय उदयन्मां मदयति ॥६॥

क्व मे कान्तः कृष्णस्त्वरितमिह तं लोकय सखे त्वमेवेति द्वाराधिपमभिदधन्नम्मुद इव !
द्रुतं गच्छ द्रष्टुं प्रियमिति तदुक्तेन धृत-तद् भुजान्तो गौराङ्गो हृदय उदयन्मां मदयति ॥७॥

समीपे नीलाद्रेश्चटकगिरिराजस्य कलना-दये गोष्ठे गोवर्धनगिरिपतिं लोकितुमितः ।
व्रजन्नस्मीत्युक्त्वा प्रमद इव धावन्नवधृतो गणैः स्वैर्गौराङ्गो हृदय उदयन्मां मदयति ॥८॥

अलं दोलाखेला-महसि वरतन्मण्डप-तले स्वरूपेण स्वेनापर निज-गणेनापि मिलितः ।
स्वयं कुर्वन्नाम्नामति-मधुरगानं मुरभिदः सरङ्गो गौराङ्गो हृदय उदयन्मां मदयति ॥९॥

दयां यो गोविन्दे गरुड इव लक्ष्मीपतिरलं पुरीदेवे भक्तिं य इव गुरुवर्ये यदुवरः ।
स्वरूपे यः स्नेहं गिरिधर इव श्रील-सुबले विधत्ते गौराङ्गो हृदय उदयन्मां मदयति ॥१०॥

महा-सम्पद्दारादपि पतितमुद्धृत्य कृपया स्वरूपे यः स्वीये कुजनमपि मां न्यस्य मुदितः ।
हरोगुञ्जाहारं प्रियमपि च गोवर्धन शिलां ददौ मे गौरांगो हृदय उदयन्मां मदयति ॥११॥

इति श्रीगौरांगोद्गत-विविध-सद्भाव-कुसुम-प्रभाभ्राजत् पद्यावलि-ललितशाखं सुरतरुम् ।
मुहुर्योऽतिश्रद्धौषधिवर-बलत्-पाठसलिलैः-रलं सिञ्चेद् विदेत् सरस-गुरुतल्लोकनफलम् ॥१२॥

अनुवाद—

जनसमूह जिनकी चलनेकी गति देखकर मदमत्त गजराजके ऊपर तथा जिनके श्रीमुखचन्द्रको देखकर पूर्णचन्द्रके ऊपर मुखके जलकणों (थूक) का परित्याग करता था तथा जो अपनी कान्ति द्वारा सुवर्ण-पर्वतको भी सुशोभित करते थे, वे श्रीगौराङ्ग देव अपनी अमृतमयी वाणी-तरङ्गोंके साथ मेरे हृदयमें उदित होकर मुझे प्रमुदित कर रहे हैं ॥१॥

जिस प्रकार कोई व्यक्ति विविध प्रकारके नये-नये अलंकारोंसे अलंकृत होकर नृत्य करता है, उसी प्रकार जो माथुर-विरहिणी श्रीमती राधिकाके अकस्मात् श्रीकृष्णाविर्भावजन्य परमानन्द-भरपूर अन्तःकरणके भावोंसे विभावित होकर स्तंभ, स्वेद, कंप, अश्रु, वैवर्ण्य और रोमांच आदि विविधि प्रकारके नवीन-नवीन अष्टसात्त्विक भावरूपी अलंकारोंसे अलंकृत होकर नीलाचलपति श्रीजगन्नाथदेवके आगे अतिशय आनन्दवशतः हास्य करते-करते स्वेद-बिन्दुओंसे सुशोभित होकर नृत्य करते थे, वे श्रीगौराङ्ग देव मेरे हृदयमें उदित होकर मुझे हर्षित कर रहे हैं ॥२॥

जो रसोल्लास-जन्य आनन्दसे विह्वल होकर अपने दोनों चरणकमलोंको इधर-उधर सब ओर संचालन करनेके कारण कंपित कलेवर हो तथा ज

अरुण-रङ्गके जल-यंत्र-सदृश नयनोंसे प्रवाहित अश्रु-धाराओंसे संसारको सींचते हुए दन्त-पंक्तिसे अपने सुमधुर अधर-पल्लवका दंशन करते थे, वे श्रीगौराङ्गदेव मेरे हृदयमें उदित होकर मुझे आनन्दित कर रहे हैं ॥३॥

किसी दिन काशी मिश्रके भवनमें श्रीनन्दनन्दन के अत्यन्त विरहके हेतु जिन भुजाओं और चरणोंका सौन्दर्य तथा सन्धि स्थान-समूह शिथिल हो रहे थे, उन भुजाओं और चरणोंको अत्यन्त लम्बा करते हुए जो भूमि पर लोट कर विकलसे भी विकल होकर गद्‌गद् वाणीसे कातर होकर रोदन करते थे, वे श्रीगौराङ्ग देव मेरे हृदयमें उदित होकर मुझे आह्लादित कर रहे हैं ॥४॥

जो संकीर्तन समाप्त होने पर क्लान्तिको दूर करनेके लिये अपने भक्तों द्वारा घरके भीतर सुलाये गये थे, वे परमोत्कंठाके कारण घरके भीतर रहनेमें असमर्थ होकर घरसे बाहर निकालनेका द्वार न पाकर तीन द्वारोंको खोले बिना ही अत्यन्त ऊँची-ऊँची तीन चहारदिवारियोंको ऊपरसे लाँघ कर कलिङ्ग प्रदेशीय गायोंके बीचमें पड़े हुए थे और कृष्ण-विरहमें अतिशय कातर होनेके कारण शरीरमें कुबड़-पन उभर आनेसे जो कछुवेकी भाँति सुशोभित हुए थे, वे श्रीगौराङ्गदेव मेरे हृदयमें उदित होकर मुझे आमोदित कर रहे हैं ॥५॥

अपने असंख्य प्राणोंके समान प्रिय श्रीवृन्दावनीय-विरह जन्य उन्मादके कारण निरन्तर प्रलाप करते-करते व्याकुल होकर अपने मुख-चन्द्रको दिवालोंसे घर्षण कर घीसे अङ्गोंसे निकले हुए रुधिरको जिन्होंने अपने समस्त अङ्गोंमें धारण किया था, वे गौराङ्गदेव मेरे हृदयमें उदित होकर मुझे अत्याश्चर्य-चकित कर रहे हैं ॥६॥

किसी दिन श्रीचैतन्य देव पुरीद्वार पर उपस्थित होकर उन्मत्तकी भाँति भ्रमवश द्वारपालको सखी समझ कर बोले—"हे सखि ! मेरे वे प्रिय कान्त श्रीकृष्ण कहाँ हैं ? तुम उनको शीघ्र लाकर मुझे उनका दर्शन कराओ ।' उनकी यह बात सुनकर द्वारपालने नम्रतापूर्वक उनसे कहा—'आप अपने प्रियतमका दर्शन करनेके लिए शीघ्र चलें ।' द्वारपाल के इस प्रकार कहने पर जो उसका हाथ पकड़े हुए थे, वे श्रीगौराङ्ग देव मेरे हृदयमें उदित होकर मुझे आनन्द सागरमें निमज्जित कर रहे हैं ॥७॥

जिन्होंने नीलाचलके समीपवर्ती चटक पर्वतके दर्शनोंके लिए अपने प्रिय भक्तजनसे इस प्रकार कहा था—'हे स्वरूप आदि ! मैं वृन्दावन स्थित गिरिराज गोवर्द्धनका दर्शन करनेके लिए श्रीक्षेत्रसे जा रहा हूँ ।' ऐसा कह कर जो भक्तजनके सहित प्रमत्तकी भाँति दौड़ने लगे थे, वे श्रीगौराङ्गदेव मेरे हृदयमें उदित होकर मुझे आनन्द सागरमें निमज्जित कर रहे हैं ॥८॥

जो झूला-खेल अर्थात् लीला कौतुक द्वारा शोभा-विशिष्ट मण्डपके नीचे अपने प्रिय स्वरूप दामोदर और दूसरे प्रियजनोंके साथ मुरारी श्रीकृष्णके नामों का अतिशय मधुर स्वरसे गान करते-करते उसका अभिनय करते थे, वे श्रीगौराङ्गदेव मेरे हृदयमें उदित होकर मुझे आमोदित कर रहे हैं ॥९॥

लक्ष्मीपति नारायणकी जैसी दया गरुड़ पर रहती है, वैसी ही दया जिन्होंने भक्त श्रेष्ठ गोविन्दके

ऊपर की थी; सान्दीपनि मुनिके प्रति श्रीकृष्णकी जैसी भक्ति थी, वैसी ही भक्ति जिनकी श्रीईश्वर पुरीके प्रति थी और श्रीसुबलके प्रति श्रीकृष्णका जैसा स्नेह था, वैसा ही स्नेह जिनका श्रीस्वरूप गोस्वामीके ऊपर था, वे श्रीगौराङ्गदेव मेरे हृदयमें उदित होकर मुझे आनन्दसे पुलकित कर रहे हैं ॥१०॥

मुझ पतित और घृणितके ऊपर भी कृपा करके जो महासम्पत् स्वरूप हैं, कलत्र आदि से मेरा उद्धार करके अपने स्वरूपके निकट मुझे स्थापित कर जो परमानन्दित हुए थे और जिन्होंने मुझे अपने प्रिय पात्रके रूपमें स्वीकार कर मेरे वक्षःस्थलमें गुंजाहार तथा (भजनके उत्कर्षके लिए) मुझे श्रीगोवर्द्धन शिला प्रदान किया था, वे श्रीगौराङ्ग देव मेरे हृदय में उदित होकर मुझे आनन्दित कर रहे हैं ॥११॥

इस प्रकार गौराङ्गदेवमें विद्यमान नाना-प्रकारके सद्भाव रूप कुसुमोंकी प्रभा एवं ललित श्लोक-श्रेणी जिसकी शाखाएँ हैं, इस प्रकार के सुरतरु सदृश इस स्तवको जो अतिशय श्रद्धारूप श्रेष्ठ औषधि द्वारा संशोधित पाठरूपी जलसे सींचते हैं वे परम रसिक श्रीगुरुदेवकी कृपादृष्टिरूप परम फलको प्राप्त करते हैं ॥१२॥

त्रिविध अधिकार

उत्तमाधिकार

जो भक्त प्राणिमात्रको भगवानके सेवोपकरणके रूपमें देखते हैं, उन सबको अद्वयज्ञान परतत्त्वसे भिन्न स्वतन्त्र सत्ताके रूपमें नहीं देखते, उनको जीवका भोग्य पदार्थ नहीं समझते, जिनकी भक्तिके प्रतिकूल आश्रय-विवेककी धारणा नहीं है, जो किसी भी वस्तुमें प्रतिकूल भाव दर्शन नहीं करते, सर्वत्र अनुकूलताका दर्शन करते हैं तथा जो सभी वस्तुओंको अन्वय या व्यतिरेकरूपमें भगवानकी सेवामें नियुक्त देखते हैं, वे उत्तम भागवत हैं।

जो लोग अपनेको भोक्ता और द्रष्टा मानकर त्रिगुणोंके दलदलमें फँसकर अच्छे-बुरेका विचार करते हैं, भगवानके विमुख हो स्थूल-सूक्ष्म देहमें आत्मबुद्धि रखनेके कारण वास्तव वस्तुके विचारसे दूर रहते हैं, जो चेतन-अचेतन वस्तुओंको भगवत्सम्बन्धसे रहित मानकर अपनी संकीर्णताका परिचय देते हैं, उनका ऐसा कुदर्शन और उपरोक्त महाभागवतोंका सुदर्शन एक नहीं।

जिनकी अनुकूलताकी मात्रा पूर्णताको प्राप्त नहीं हो पायी है, जो प्रतिकूल प्रतीतियोंके साथ असहयोग करते हैं, वे क्रमशः परम उन्नत होते-होते महाभागवतकी पदवी लाभ करते हैं। जो भक्ताभक्त विचार करनेमें असमर्थ होनेके कारण भगवानकी तो पूजा करते हैं, परन्तु भक्तोंकी पूजा नहीं करते, उनके प्रति उदासीन रहते हैं तथा अपने प्राकृत अधिकारमें

अधोक्षजकी पूजाके समय जिनमें अधोक्षजके सेवकों का आनुगत्य नहीं होता अर्थात् भक्तोंके आनुगत्यमें भगवानकी सेवा करनेकी भावना जिनमें अतिशय अल्प मात्रामें हैं, वे कनिष्ठाधिकारी भक्त हैं। ऐसे भक्तजन अपने अधिकारको उन्नत करते-करते भगवान एवं भक्त दोनोंकी समान रूपमें सेवा करते-करते मध्यमाधिकारमें प्रवेश करते हैं। उस समय वे परोपकार व्रत-धारण कर सौभाग्यशाली व्यक्तियोंका (कनिष्ठ भक्तोंका) अपने संगसे कल्याण करते हैं—उन्हें उन्नत अधिकारमें पहुँचनेमें सहायता करते हैं। साथ ही भगवद्विमुख कपटी लोगोंके कुसंगसे सर्वदा दूर रहते हैं। ऐसे मध्यमाधिकारी भक्तजन क्रमशः उन्नत होकर उत्तमाधिकारको प्राप्त होते हैं।

कुकर्मोंमें फँसे जीवोंके लिये सत्कर्मनिष्ठा आवश्यक है। उसके द्वारा कुकर्मीजीव सत्कर्माधिकारमें उपस्थित होता है। पुनः सत्कर्माधिकारी जीवको जब कृष्णेतर विषयोंमें वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, तब वह ज्ञाननिष्ठ अवस्थामें उपस्थित होता है। ज्ञाननिष्ठोंमें भजनोन्मुखता पैदा होनेपर वे कनिष्ठाधिकारी भक्तोंके चरणोंमें शरणागत होते हैं। कनिष्ठाधिकार उन्नत होने पर मध्यमाधिकारकी विचार-प्रणालीके शिक्षक उनको अपनी श्रेणीमें अन्तर्भुक्त कर लेते हैं। उस मध्यम श्रेणीमें पारंगत होने पर महाभागवत गुरुकी सेवाके प्रभावसे उन्हीं महाभागवतका विचार उनके शुद्धचित्तको क्रमशः उन्नत करके परमहंस महाभागवत-अधिकारमें पहुँचा देता है। ऐसी अवस्थामें उस जीवके प्रत्येक आचरणसे, प्रत्येक विचारसे ऐकान्तिकरूपमें कृष्णका अनुशीलन होने लगता है। तब मायाकी आवरणात्मिका और विक्षेपात्मिका वृत्तियाँ उन महाभागवतको सदाके लिये छोड़कर दूर हट जाती हैं। ऐसा होने पर वे महाभागवतवर श्रीरूप गोस्वामीके उपदेश—"शुश्रुषया भजन-विज्ञमनन्यमन्यनिन्दादिशून्यहृदमीप्सित-सङ्गलब्ध्या।" में प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

महाभागवतमें ऐसी अलौकिक शक्ति होती है कि वे अपनी कृपाशक्ति (भक्तप्रसादज) के द्वारा अपने अनुगत मध्यमाधिकारी भक्तोंको उत्तम महाभागवत श्रेणीमें उन्नत कर देते हैं तथा कनिष्ठाधिकारीको मध्यमाधिकारमें अधिकार दे देते हैं। महाभागवत पुरुष भगवान और भक्त विद्वेषी लोगोंके विरुद्ध खड़े होनेके बदले मौन धारण करते हैं तथा मध्यमाधिकारी और कनिष्ठाधिकारी भक्तों द्वारा बहिर्मुख जीवोंके अन्तःकरणको शोधित होनेका सुयोग प्रदान करते हैं। जो लोग भक्तिराज्यके कनिष्ठाधिकारकी महिमा समझनेमें असमर्थ हैं तथा मध्यमाधिकारके अधिकांश कल्याणजनक भावोंके प्रशंसक नहीं हैं, वे उत्तमाधिकारको तनिक भी समझ नहीं पाते। फल स्वरूप वे मायावादी होकर कंस, अघासुर, बकासुर और पूतना आदिका अनुगमन करते हैं तथा भगवानके द्वारा मारे जाते हैं। भोगीजन भी अपने-अपने अपस्वार्थमें आबद्ध रहनेके कारण भगवद्विमुख होकर अपना अमङ्गल करते हैं। ऐसे लोगोंमें भगवद्भजनके प्रति उत्साहका अभाव देखा जाता है।

उत्तम भागवत अनर्थोंसे मुक्त होते हैं। विषय भोगमें उनकी तनिक भी आसक्ति नहीं रहती। वे कृष्णेतर कामनाओंसे सर्वथा रहित होकर भगवानके

नाम,रूप,गुण,लीला और परिकर-वैशिष्ट्यमें प्रवेशाधिकार लाभकर मायिक आवरण और विघ्न-बाधाओंको पारकर अपनी स्थायी भावरतिके विक्रमको दबा न सकनेके कारण चेतन-अचेतन सभी पदार्थोंमें ही अपने इष्टदेव भगवानके प्राकट्यका अनुभव करते हैं। उस समय सर्वत्र ही वे भगवद्-भावकी उपलब्धि करते हैं। वन, लता और वृक्षोंमें भगवद्दर्शन करते हैं। सर्वत्र ही उन्हें कृष्ण-प्रेमकी उद्दीपना होती है।

मायावादी स्वगत-स्वजातीय-विजातीय-भेदरहित ब्रह्मज्ञानके विचारसे अच्छादित होकर 'नष्टस्तदा'—श्लोकका तात्पर्य और 'कुररि विलपसि त्वम्'–श्लोक का मर्मार्थ समझ न सकनेके कारण चिद्विलासके विचारसे विपरीत धारणा रखते हैं। भगवान और भक्तका नित्यवैचित्र्य विद्यमान होता है; परन्तु ब्रह्मज्ञानीकी ब्रह्मज्ञान - दृष्टिमें ऐसी विचित्रताका अधिष्ठान नहीं है। वह इन विचित्रताओंके नित्य होने पर भी ब्रह्म-तत्त्वको निर्विशेष ही देखता है। यह अत्यन्त हेय दर्शन है। निर्विशेष निराकार आदि पार्थिवज्ञान एवं प्रीति-पराकाष्ठा सहित सविशेष साकाररूप अप्राकृत चिद्विलास-विचार परस्पर विरोधी हैं। जिनको भगवत् तत्त्वज्ञान नहीं है, वे हैतुकी और व्यवधान युक्त विद्धाभक्तिका आदार कर सकते हैं। यह उनके दुर्भाग्यका ही परिचय है। परन्तु भगवानमें अत्यधिक प्रेमके कारण सर्वत्र ही इष्टदेवकी स्फूर्ति तो केवल महाभागवतोंको ही संभव है। जिस प्रकार कामुक व्यक्ति सर्वत्र ही तन्मयताके कारण अपनी कामिनीका दर्शन करता है, उसी प्रकार उत्तम भागवत भी भगवत्सेवामें तन्मय रहनेके कारण सर्वत्र ही अपने प्रभुका दर्शन करते हैं। मायावादियोंके विचारमें प्राकृत बुद्धि और विवेककी गति लक्षित होती है; परन्तु भागवतोत्तम के विचारमें मायिक बुद्धि और विवेकका अवकाश नहीं। जहाँ सेवोपकरणका दर्शन होता है, वहाँ सेव्य-सेवकका दर्शन भी नित्य होता है। दुर्भाग्यसे मायावादियोंको ऐसा दर्शन नहीं मिलता।

मध्यमाधिकार

भगवानकी तटस्था शक्ति-परिणत जीव मुक्तावस्थामें स्वरूपतः आनन्द-युक्त होने पर भी बद्धावस्था में आनन्दरहित सा हो पड़ता है। बद्धदशामें वह भगवत्सेवाके कार्योंके प्रति उदासीन रहता है, भगवत् सेवकोंके प्रति बन्धुत्वभावसे रहित होता है तथा जो भगवत्सेवामें संलग्न होते हैं, उनके प्रति कृपाहीन या निरपेक्ष होता है। साथ ही सेवा-विमुख भोगी अहंकारी व्यक्तियोंको ही अपना बन्धु मानता है। वह भगवत् प्रेमसे वंचित होनेके कारण भगवत्-विग्रहके प्रति ममत्वकी बुद्धि नहीं रखता। इसलिये न तो वह प्रेमी भगवद्भक्तोंकी सेवा-शुश्रुषा करता है और न उनके आनुगत्यमें भगवत् सेवोन्मुख पुरुषोंका या समाजका आदर ही करता है। यथार्थ दयाका स्वरूप न जाननेके कारण निष्ठुर होकर जीवोंको भगवत् विमुखताकी ओर अग्रसर होनेमें सहायता करता है तथा भगवद्विमुख आश्रयविहीन लोगोंके ऊपर प्रभुत्व करनेके लिये उत्सुक रहता है। जीवको भगवानके प्रति उन्मुख करना ही सर्वोत्तम कृपा है। विमुख जीवोंद्वारा स्वयं प्रभावित न होकर

उनके प्रति उदासीनता प्रकाश करना ही उनके प्रति दयालुताका ही परिचय है । विमुखोंके साथ समदर्शनकी आड़में सेवोन्मुखजन जो मित्रता करते हैं, वह मित्रता भगवानके प्रिय भक्तोंकी मित्रताकी विमुखता मात्र है ।

साधन राज्यमें पूर्ण अधिकार प्राप्त करनेसे पूर्व कुसंग-त्याग करने तथा सत्संग ग्रहण करनेकी आवश्यकताकी उपलब्धि न करनेपर जीव कनिष्ठाधिकार में अवस्थित होता है । उस समय उसका ईश्वर-सेवामें थोड़ा-बहुत अधिकार रहने पर भी वह भगवद्भक्तोंके तारतम्यको समझकर उनके प्रति मित्रताके तारतम्यकी उपलब्धि नहीं कर पाता । ऐसी अवस्थामें भगवद् उन्मुख, भगवत्सेवा-निरपेक्ष और भगवद्विद्वेषीको एक समान या समपर्यायमें माननेके कारण उसका भक्तिराज्यमें प्रवेशका अधिकार अभी नहीं है—ऐसा समझना चाहिए । जबतक जीवमें भक्त और अभक्त पहचानने तथा उसके अनुसार उनके प्रति व्यवहार करनेका विवेक उदित नहीं हो जाता, तबतक वह सेवोन्मुखताका अनुमोदन करने पर भी भक्तिराज्यमें प्रवेश करनेका अधिकारी नहीं होता । साधनकालमें विद्वेषीजनोंके कुसङ्गका परित्याग नहीं करनेसे जीव अधोपतित होकर भगवत्सेवासे विमुख हो जाता है। सेवनकी सुष्ठुता तथा स्वरूप ज्ञानकी उपलब्धिके लिये सेवा विमुख मायावादी, फलकामी भोगी, कर्मी और ज्ञानीके विचारोंसे दूर रहनेके लिये मायावादी, कुतार्किक और कर्मनिष्ठोंके विचारोंकी प्रशंसा करने या उनके प्रति आदरकी बुद्धि रखनेसे बचना चाहिये । कुसङ्ग या असत्सङ्गसे सर्वदा बचना चाहिये; विशेषतः उत्तम महाभागवतकी अवस्थामें न पहुँचने तक विशेष सावधानी बर्तनी चाहिये; क्योंकि उत्तम अधिकार उपस्थित होने पर दुःसङ्गका उसपर प्रभाव नहीं पड़ता । परन्तु इसलिये महाभागवतोंकी देखा देखी कनिष्ठाधिकारी भी कुसङ्गकी परवाह नहीं करे, उससे बचनेकी चेष्टा नहीं करे तो उसे उत्तमाधिकारी नहीं माना जा सकता ।

जो लोग समन्वयवादके नाम पर अभक्तों और भक्तोंके एक समान बतलाते हैं, भगवद्भक्तोंके अधिकारके प्रति आक्रमण करके उनको अनुदार या संकीर्णचेता मानते हैं, वे अहंकार विमूढ़ात्मा हैं । जो लोग कनिष्ठाधिकारको पारकर मध्यमाधिकार में पहुँचते हैं, उनमें ये चार लक्षण लक्षित होते हैं—(१) भगवानसे प्रीति या प्रेम, (२) भगवत्सेवामें तत्पर भक्तोंकी प्रीतिपूर्वक सेवा, उनके प्रति प्रगाढ़ बन्धुत्व तथा आनुगत्यात्मक बन्धुत्व, (३) अपराधको दूर करनेकी इच्छा रखनेवाले कनिष्ठाधिकारीको नामभजनमें उत्साह प्रदान करना, और (४) भगवद् भक्ति विरोधी जड़प्रमत्त अहंकारी दुर्जन व्यक्तियों का संग वर्जन करना ।

(क्रमशः)

प्रश्नोत्तर

वेदानुगत्रुव और वेद-विरुद्ध अपसम्प्रदाय

प्रश्न १—भारतीय वेदानुगत्रुव (जो किसी स्वार्थ सिद्धि आदिके लिये ऊपरसे कहने मात्रके लिये वेद मानते हैं, परन्तु यथार्थमें वेद विरुद्ध कार्य करते हैं) वेद-विरुद्ध मतवाद, उसके ही जैसा विदेशीय आध्यत्मिक मतवाद और ईशानुगतिवाद—इन मतवादोंके क्या क्या विचार हैं ?

—"भारतवर्षमें सिद्ध-ज्ञानस्वरूप वेद-सम्मत वेदान्त-शास्त्र और उनका आनुगत्य स्वीकार करके भी वेदार्थ विरोधी मत प्रकाश करनेवाले न्याय, सांख्य, पातञ्जल, वैशेषिक और कर्ममीमांसा आदि शास्त्र, वेद विरुद्ध बौद्ध और चार्वाक मत आदि नाना प्रकार के मतवाद प्रचलित हुए हैं। चीन, ग्रीस, फारस, फ्रांस, इग्लैंड, जर्मनी, इटली आदि देशोंमें जड़वाद (Materialism) स्थिरत्ववाद (Positivism), निरीश्वर कर्मवाद (Secularism), निर्वाण सुखवाद (Pessimism), सन्देहवाद (Sceptic's n), अद्वैत (सर्वब्रह्म) वाद (Pantheism), नास्तिक्यवाद (Atheism) आदि नाना प्रकारके मतवादों (Ism) प्रचलित हैं। कुछ ऐसे भी मतवाद हैं, जिनमें युक्तिके द्वारा ईश्वरकी संस्थापना की गई है। श्रद्धालु होकर ईश्वर की उपासना करनी चाहिये, ऐसा भी एक मत संसार के अनेक देशोंमें प्रचलित हुआ है। यह मत कहीं-कहीं केवल श्रद्धामूलक मतवादके रूपमें प्रतिष्ठित है और कहीं-कहीं इसे परमेश्वर प्रदत्त धर्म माना गया है। जिन-जिन देशोंमें केवल श्रद्धामूलक माना जाता है, वहाँ उसे ईशानुगतिवाद (theism) कहते हैं। और जिन-जिन देशोंमें उसे ईश्वर प्रदत्त माना जाता है, वहाँ यह ईश्वर प्रदत्त शास्त्रीय मत अर्थात् ईसाई धर्म (Christianity), मुसलमानधर्म (Mahmodanism) आदि नामों से प्रसिद्ध है।"

(त. वि. १ म अनु. ३)

प्रश्न २—किन-किन धर्मोंको विधर्म, छलधर्म, धर्माभास या अधर्म कहा जा सकता है ?

"जिस धर्ममें नास्तिक्यवाद, सन्देहवाद, अनात्मवाद स्वभाववाद, और निर्विशेषवाद आदि अनर्थ विद्यमान रहते हैं, उस धर्मको भक्तजन धर्म नहीं मानते हैं, ऐसे धर्मोंको छलधर्म, विधर्म, धर्माभास या अधर्म समझना चाहिये।"

(चै. शि. १।१)

प्रश्न ३—जड़वादियोंका धर्म कैसा होता है ?

"जड़वादियोंने जिस धर्मका उपदेश दिया है, वह धर्म भित्तिरहित घरकी तरह पतनशील है।"

(त. वि. १ म अनु. ६।१२)

प्रश्न ४—भारतीय और विदेशीय स्वार्थ और निस्वार्थ जड़ानन्दवाद क्या हैं और इनका स्वरूप क्या है ?

"जड़ानन्दवादी दो प्रकारके हैं:—(१) स्वार्थ-जड़ानन्दवादी और (२) निःस्वार्थजड़ानन्दवादी। स्वार्थ जड़ानन्दवादियोंका कहना है—'जब ईश्वर, आत्मा, परलोक और कर्मफल आदि नहीं हैं, तब सांसारिक (ऐहिक) कर्मफलोंसे कुछ सावधान रहकर अनवरत (निरन्तर) इन्द्रियसुखोंका भोग करते हुए आनन्दसे समय बीताना चाहिये।*** भारतवर्ष में चार्वाक, चीनमें नास्तिक इयाङ्गचू (Yangchoo) ग्रीसमें नास्तिक लुसिपस् (Leucippus), मध्य एशियामें सर्डनापेलास् (Sardanapalas), रोम में लुक्रिसियस् (Lucretius) आदि और अन्यान्य कई देशोंमें इस मतको पुष्टि करनेवाले ग्रन्थोंकी रचनाएँ हुई हैं। भान हलवाक् (Von Holbach) का कहना है कि अपने अपने सुखवर्द्धक धर्म ही ग्रहणयोग्य हैं। दूसरोंके सुखसे अपनेको सुखी करने का कौशल ही धर्म कहा जा सकता है।**** ग्रीस-देशके प्लेटो (Plato) और आरिष्टोटल (Aristotle) ने परमेश्वरको एकमात्र नित्यवस्तु और समस्त जगतका एकमात्र मूल कारण नहीं माना है। कणाद-मतके दोष-समूह ही इन सभी विद्वानोंके मतोंमें देखे जाते हैं। गेसेन्डी (Gassendi) ने परमाणुवादको स्वीकार करते हुए परमेश्वरको परमाणुओंका सृष्टिकर्त्ता माना है।

फ्रान्समें डिडेरो (Diderot) और लामेट्रि (Lamettre) आदिने निस्वार्थ जड़ानन्दवादका प्रचार किया है। निस्वार्थ जड़ानन्दवाद क्रमशः उन्नत होकर फ्रान्सके कोंत् (Comte) नामक एक दार्शनिकके ग्रन्थमें सम्पूर्णताको प्राप्त हुआ है।*** उन्होंने अपने मतको स्थिरत्ववाद (Positivism) कहा है। परन्तु उनका यह मत नितान्त असार है; क्योंकि उनके मतानुसार हम जड़ीय प्रतीति और जड़गत विधिके अतिरिक्त अन्य वस्तुको नहीं जान-पाते। इन्द्रियोंको छोड़कर हमारे लिये ज्ञान प्राप्त करनेका और कोई साधन नहीं है। उनका धर्म यही है कि अन्तःकरण वृत्तिकी आलोचनाके द्वारा इस वृत्तिकी ही मनुष्य पुष्टि करें। उसकी पुष्टि करनेके लिये एक काल्पनिक विषयका अवलम्बन कर एक स्त्री-मूर्तिकी पूजा करनी चाहिये। विषय असत्य होनेपर भी यह प्रवृत्ति चरितार्थ हो जाती है। पृथ्वी उनका महत्तत्त्व (Supreme Fetich) है। देश ही उनका कार्याधार (Supreme Medium) है; मानव-प्रकृति ही उनकी प्रधान सत्ता (Supreme Being) है। हाथमें एक शिशुको लिये हुए स्त्री-मूर्तिकी प्रातःकाल, मध्याह्न और सन्ध्याके समय पूजा करनी चाहिये।*** इंग्लैण्ड देशके विद्वान् मिल् (Mill) ने जड़वादको भाववादके रूपमें विचार करते हुए अन्तमें कई विषयोंमें कोंत्के सहित ऐक्य प्रकट करते हुए निस्वार्थ-जड़ानन्दवादकी ही पुष्टि की है। एक प्रकारके निरीश्वर संसारवाद (Secularism) ने आपाततः इंग्लैण्डके अनेक युवकोंका चित्त आकर्षण किया है। मिल् लुइस् (Mill Lewis), पेन (Paine), कारलाइल् (carlyle) बेंन्थाम् (Bentham), कोम (combe) आदि तार्किक ही इस मतके प्रवर्त्तक हैं। यह मत दो भागोंमें विभक्त है। हलियक् (Holyoake) एक विभागके प्रधान कर्त्ता हैं। उन्होंने अनुग्रहपूर्वक ईश्वरको कुछ अंशों तक स्वीकार किया

है। दूसरे विभागके प्रवर्त्तक ब्राडला (Bradlaugh)सम्पूर्ण नास्तिक हैं।"

(त. वि. १ म अनु. ५-८)

प्रश्न ५—निस्वार्थ-जड़ानन्दवादियोंका वास्तविक स्वरूप क्या है ?

"स्वार्थ-जड़ानन्दवादियोंका असल स्वरूप उनके मतके नामसे प्रकट है। वास्तवमें निस्वार्थ-जड़ानन्दवादी भी स्वार्थवादी ही हैं।"

(त. वि. १ म अनु. ६-१२)

प्रश्न ६—निस्वार्थवादियोंका मत क्या स्वार्थ-रहित है ?

"ईश्वर-संभव-चातुर्यवशतः निरीश्वर कर्मवादका भारतमें इतना व्यापक रूपमें प्रचार है। इसके प्रचारक स्मार्त-पण्डित हैं। एक व्यक्तिका स्वार्थ दूसरे व्यक्तिके स्वार्थको आघात (बाधा) पहुँचाता है। अतएव क्षुद्र बुद्धिवाले व्यक्ति निस्वार्थ नामको सुनकर अपनी स्वार्थ-पूर्तिकी आशामें निःस्वार्थवादियोंके मतका आदर करते हैं।"

(त. वि. १ म अनु. ६-१२)

प्रश्न ७—पाश्चात्य विद्वानोंमें मौलिक-पाण्डित्य कहाँ तक है ?

"पाश्चात्य देशोंमें अत्यन्त अल्प समयसे ही मनुष्योंकी सभ्यता और बुद्धिवृत्तिका परिचय पाया जाता है। इसलिये उन सब देशोंमें ह्विण्डल, हाक्सलि, डारविन आदि पण्डित माने जाते हैं। पुरानी बातको नयी भाषामें बोलनेसे जो पाण्डित्य लक्षित होता है, उसका ही वे दावा कर सकते हैं। चार हजार वर्ष पहले जिस श्रीभगवद्गीताका प्रादुर्भाव हुआ था, उसमें आसुर-प्रवृत्तिका वर्णन करते हुए "जगदाहुरनीश्वरम्," "अपरस्परसम्भूतं" आदि श्लोकोंमें यह बतलाया गया है कि स्वभाववाद, क्रमोन्नति, और क्रमोपत्तिवाद आदि मत आसुर-प्रवृत्तिसे उत्पन्न हैं।"

धर्म और विज्ञान, स. तो. ७।७

प्रश्न ८—कर्मजड़-स्मार्त्तोंकी प्रायश्चित्तादि व्यवस्थाएँ क्या कपटता-रहित हैं ?

"एक समय किसी स्मार्त्त-पण्डितने प्रायश्चित्त विषयक एक जिज्ञासुको चान्द्रायणादि-व्रत पालन करनेका आदेश दिया उनका आदेश सुनकर उस व्यक्तिने कहा—'पण्डितजी ! यदि मकड़ीका वध करनेके कारण मुझे चान्द्रायण-व्रतका पालन करना पड़े, तो आपके पुत्र, जो मेरे साथ इस कार्यमें लिप्त थे, उनके लिये भी तो चान्द्रायण व्रतका पालन करना आवश्यक है ?' पण्डितजी यह सुनकर बड़े संकटमें पड़े। तब वे अपनी पुस्तकके दो तीन पन्नोंको उलटकर कहने लगे—'अजी ! मुझसे भूल हो गयी है। शास्त्रमें यह कहा गया है कि मकड़ीको मारनेसे कोई दोष नहीं होता। अतएव तुम्हें कुछ भी करनेकी आवश्यकता नहीं है।' निरीश्वर स्मार्त्तों की प्रायश्चित्तादि क्रियाएँ आदि भी ऐसे ही होती हैं।"

(त. वि. १ म अनु. ६-१२)

प्रश्न ९—सन्देहवादकी क्या गति है ?

"सन्देहवाद आप ही अपना विनाश करता है। क्योंकि उसमें संदिग्ध तत्त्वोंको स्वीकार किया गया है।"　　—त. वि. १ म अनु. १६

प्रश्न १०—नवीन नास्तिकोंकी मौलिकता कहाँ तक है ?

"नवीन नास्तिक लोग जिन मतोंका प्रचार कर अपनेको नवीन मत प्रचारक मानते हैं, वे सभी मत भ्रममात्र हैं । वे लोग पुराने मतोंको ही नामान्तर और रूपान्तरके द्वारा प्रकाशित करते हैं ।"

त. वि. १ म. अनु. १७

प्रश्न ११—आध्यत्मिक व्यक्तियोंके विचार कैसे हैं ?

"कई पण्डिताभिमानी व्यक्तियोंसे हमारी भेटें होती हैं । वे लोग ऐसा सोचते हैं कि बुद्धि और विद्याके बलसे उन्होंने भक्तिका स्वरूप जान लिया है। वस्तुतः उनमेंसे किसी-किसीने ज्ञानमिश्रा भक्तिको और किसी-किसीने कर्ममिश्रा भक्तिको ही भक्ति मान रखा है । उनका दम्भ इतना अधिक होता है कि चैतन्य-चरितामृतमें शास्त्र ग्रन्थोंके शब्दोंको या मंत्रोंका जो अर्थ लिखाया है, उसे सुन कर भी वे लोग यही कहते हैं कि अपने-अपने मतानुसार सभी अच्छी व्याख्या कर सकते हैं । चरितामृत आदि ग्रन्थोंकी व्याख्या को मान लेना ही सबके लिये आवश्यक नहीं है । ऐसे व्यक्तियोंको सद्धर्म जाननेकी इच्छा न होनेके कारण सद्धर्मके साथ इन लोगोंका तनिक भी सम्बन्ध नहीं होता । इसका परिणाम यह होता है कि वे अपनी-अपनी नवीन-प्रणालीके अनुसार भजन करनेका व्यर्थ प्रयास करते हैं, परन्तु वे कभी भी शुद्धभक्तिका आस्वादन कर नहीं पाते ।"

—तत्तत्कर्मप्रवर्त्तन, स० तो ११।६

प्रश्न १२—ईश्वर विश्वासरहित नीतिका कोई मूल्य है या नहीं ?

"कोई-कोई नीति तो स्वीकार करते हैं; परन्तु ईश्वरको नहीं मानते । वे आत्मरक्षाके लिये यह कहते हैं कि, ईश्वर-विश्वास-रहित नीति सर्वदा भय-शून्य और कर्तव्यपूर्ण है । *** ईश्वरको अस्वीकार करनेसे सब नैतिक विधियाँ अकर्मण्य हो पड़ती हैं।"

—चै० शि० ३।३

प्रश्न १३—अक्षज (इन्द्रियज) मनोवैज्ञानिक या प्रीति वैज्ञानिकों ने क्या जगतका कुछ उपकार किया है ?

"प्रीतिका स्वरूप न समझकर जिन्होंने मनोविज्ञान और प्रीति विज्ञान आदिके विषयमें लिखा है, वे चाहे जितनी ही युक्तियाँ क्यों न दें, वह केवल राख में घी डालनेकी भाँति व्यर्थ परिश्रम मात्र है । उन लोगोंने अहंकारमें मत्त होकर अपनी-अपनी प्रतिष्ठा का संग्रहमात्र किया है । जगतका कोई उपकार करना तो दूर रहा, उन्होंने बहुत हद तक अपकार ही किया है ।"

—'प्रीति', स० तो० ८।६

प्रश्न १४—शंकराचार्यजीने किस प्रकार कर्म-काण्डियों और बौद्धोंको अपने मतान्तर्भुक्त किया था?

"शंकराचार्यको ब्राह्मणोंके द्वारा अधिक सफलता न मिलनेके कारण गिरि, पुरी, भारती आदि दस प्रकारके संन्यासी पदोंकी सृष्टि कर इन संन्यासीकी सहायता और विचार - बलसे कर्मप्रिय ब्राह्मणोंको आत्मसात् कर बौद्ध-विनाशमें प्रवृत्त हुए । जहाँ वे बौद्धोंको अपने दलमें शामिल न कर सके, वहाँ उन्होंने नागा-संन्यासी-दलके द्वारा खड्ग् आदि अस्त्रोंका सहारा लिया । अन्तमें उन्होंने वेदान्त-भाष्य की रचनापूर्वक ब्राह्मणोंका कर्मकाण्ड और बौद्धोंका

ज्ञानकाण्ड—दोनोंको एकत्र मिलाकर बौद्धों और ब्राह्मणोंको एक साथ अपने मतमें लाया। उसके पश्चात् बौद्धोंके देवायतन (मन्दिर) और देवलिङ्गों का नामान्तर कर वैदिक धर्मकी स्थापना की। बौद्धों में से कुछ प्रहारके भयसे और कुछ अपने धर्मकी डवाँडोल स्थिति देखकर ब्राह्मणोंके अधीन हो पड़े। जिन बौद्धोंने इस कार्यमें घृणाका बोध किया, वे बुद्ध-देवके सभी चिह्नोंको लेकर सिंहल-द्वीप (सीलोन), ब्रह्म-राज्य (बर्मा, स्याम आदि) में चले गये। इसी समय बौद्ध - पण्डितगण बुद्धदेवके दाँतको लेकर श्रीजगन्नाथपुरीसे सिंहल द्वीपको चले गये।"

—उपक्रमणिका, कृ. सं

प्रश्न—१५ संन्यासी या जीवको नारायण समझना क्या उचित है ?

"मायावादी संन्यासी अपनेको ब्रह्म मानते हुए मुखसे 'नारायण', 'नारायण' शब्द उच्चारण करते हैं। स्मार्त्तोंकी यही रीति है कि वे लोग (गृहस्थ ब्राह्मण भी) मायावादी संन्यासीको देखकर उसे नारायण मानकर प्रणाम करते हैं। इस भ्रमपूर्ण प्रथाको दूर करनेके लिये श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभुने कहा था—संन्यासी जीवमात्र हैं, वे कभी भी षड्ऐश्वर्यपूर्ण भगवान-नारायण या स्वयं भगवानकृष्ण नहीं हो सकते। वे अणुचिद् हैं, भगवान पूर्ण चिदवस्तु हैं अतएव जीव कृष्णरूपी सूर्यके किरण-कणके समान हैं। उन्हें नारायण या कृष्ण कहकर प्रणाम करना उचित नहीं है।"

—अ. प्र. भा. म १८।११२-११६

प्रश्न—१६ मायावादीकी पूजाको क्या देवता-वर्ग ग्रहण करते हैं ?

"मायावादी जिस किसी भी देवताकी पूजा क्यों न करें और जिस किसी देवताको अन्नादि अर्पण क्यों न करें, उनके मायावाद-निष्ठ दोषके कारण वे देवतागण उनकी पूजाको और उनके द्वारा अर्पित खाद्य द्रव्योंको ग्रहण नहीं करते।"

—जै. ध. १म अ.

प्रश्न १७—मायावादीकी कृष्णसेवा, श्रवण, कीर्तन और स्तव-स्तुतिसे क्या कृष्ण सन्तुष्ट होते हैं?"

"भक्तिर स्वरूप आर विषय-आश्रय'।
मायावादी अनित्य बलिया सब कय॥
धिक् तार कृष्ण सेवा, श्रवण, कीर्तन।
कृष्ण अंगे वज्र हाने ताहार स्तवन॥"—श०

अर्थात् मायावादी भक्तिके स्वरूप तथा उसके विषय और आश्रय—सबको अनित्य समझते हैं। अतएव उनकी कृष्णसेवा, श्रवण, कीर्तनादि भी अनित्य ही हैं। उनकी कृष्णसेवा और उनके श्रवण कीर्तनादिको धिक्कार है। उनके द्वारा किये गये स्तव आदि भगवानके अङ्गमें वज्राघात जैसे लगते हैं। अतएव भगवान उनसे कभी सन्तुष्ट नहीं होते।"

प्रश्न १८—पशुओंमें ईश्वरका आरोप करना क्या शुद्धधर्मके अनुकूल मत है ?

"जो व्यक्ति या सम्प्रदाय किसी पशुको 'ईश्वर' समझकर पूजा करते हैं, वे भी अद्वैतवादी हैं।"

—चै. शि. ५।३

प्रश्न १९—एकमात्र किनकी उपासना करनी चाहिये ?

"शाक्त, सौर, गाणपत्या, शैव और वैष्णव—ये पाँच प्रकारकी भगवद् उपासनाएँ साधकोंके संस्कार

क्रमसे हुआ करती हैं। अर्थात् पहले केवल जड़शक्ति, उसके अनन्तर जड़शक्तिके आधारमें क्रिया-शक्ति उत्तापरूपी सूर्य, उसके पश्चात् चेतनाधिष्ठान नर-गज-विशेष गणेश-देवता, तत्पश्चात् सर्वोत्कृष्ट व्यापक आत्मारूपी शिव और सबसे अन्तमें जीव और अजीवसे अतीत अतुलनीय सच्चिदानन्द-रूप परमात्मा विष्णु सेवित होते हैं। अतत्त्वज्ञ (अत्यन्त मूर्ख) व्यक्तिसे लेकर परतत्त्वज्ञ व्यक्ति तक सभी परब्रह्मका भजन करनेके अधिकारी हैं। रागकी निर्मलता और उन्नति ही उपासनाका लक्षण है। अतएव सभी जीवोंका यही कर्तव्य है कि वे स्वतन्त्र, सच्चिदानन्द परमेश्वरकी उपासना करें। दूसरी दूसरी उपासनाओंमें आबद्ध रहनेसे कभी भी श्रेष्ठ मङ्गल लाभ नहीं होता।"

(त. सू. ४७ सू.)

प्रश्न २०—प्रकृतिका कर्तृत्व कैसा है ?

"अदूरदर्शी व्यक्ति प्रकृतिको ही संसारकी रचना करनेवाली तथा विनाश करनेवाली कर्त्री मानते हैं। प्रकृतिका महिषासुर-मर्दन, चण्डमुण्ड-विनाश और शुम्भ-निशुम्भ बध इत्यादिमें उनके सम्बन्धमें जो कर्तृत्व-सूचक वाक्य कहे गये हैं, उनका पण्डितगण इस प्रकारसे सद् अर्थ करते हैं—जिस जड़ पदार्थके द्वारा जो कार्य साधित होता है, उसी जड़को स्त्रीलिङ्ग या पुल्लिङ्ग कल्पना कर उसमें कर्तृत्वका आरोप किया जा सकता है। गङ्गा-जलको पवित्रकारिणी, कलकत्ताको उल्लासिनी, कलिको धर्मोच्छेदक और विद्याको अर्थदायिनी कहनेसे उनका कर्तृत्व जैसे रूपक-बोधक मात्र है प्रकृतिके कर्तृत्वको भी वैसे ही समझना चाहिये।"

(त. सू. २२ सू.)

—ॐ विष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर

नर तनुकी सार्थकता

नर-देही पाइ चित्त चरण-कमल दीजै ।
दीन बचन, संतनि-संग दरस-परस कीजै ॥
लीला-गुन अमृत-रस स्रवननि-पुट पीजै ।
सुन्दर मुख निरखि, ध्यान नैन माहिं लीजै ॥
गद्गद् सुर, पुलक खेम, अङ्ग-अङ्ग भीजै ।
सूरदास गिरिधर-जस गाइ - गाइ जीजै ॥

उपनिषद्-वाणी

बृहदारण्यक ६

यदि कोई महत्व प्राप्तिकी आकांक्षा रखता है, तो वह उत्तरायणमें शुक्लपक्षकी पुण्य - तिथिपर बारह दिन केवल दुग्धाहार करते हुए गूलरकी लकड़ी के पात्रमें सर्वौषधि, याग और दूसरी-दूसरी सामग्रियोंको एकत्रित करके, यज्ञस्थानको लिप-पोतकर उसके चारों ओर कुश बिछाकर फिर अग्नि-स्थापन करे। फिर गृह्योक्त विधिसे घृतका शोधन करके पुलिंग नामवाले हस्ता आदि नक्षत्रमें पूर्वोक्त द्रव्यों को अग्नि और अपने बीचमें स्थापन करके मूल ग्रन्थोक्त मन्त्रसे हवन करे। मन्त्रका अर्थ इस प्रकार है—

हे अग्नि! तुम्हारे अधीनस्थ जो सब देवतागण वक्रमति होकर पुरुषकी कामनाओंको पूर्ण होनेमें बाधा प्रदान करते हैं, उनके उद्देश्यसे यह अज्यभाग मैं तुझमें हवन करता हूँ। वे तृप्त होकर मुझे समस्त कामनाओंसे तृप्त करें।

'मैं सबकी मृत्युको धारण करनेवाला हूँ'—ऐसा समझकर जो कुटिलमति देवता तेरा आश्रय करके रहता है, मैं उसके उद्देश्यसे तुझमें हवन करता हूँ। वे मेरी समस्त कामनाएँ पूरी करें।' तदनन्तर 'ज्येष्ठाय स्वाहा, 'श्रेष्ठाय स्वाहा' इस मन्त्रके द्वारा वह अग्निमें आहुति प्रदान करके स्रुवामें बचे हुए घृतको मन्थमें डाल दे तथा "प्राणाय स्वाहा, वशिष्ठाय स्वाहा" मन्त्र से हवन करे। पुनः "वाचो स्वाहा, प्रतिष्ठायै स्वाहा" मन्त्रसे आहुति देकर पुनः "चक्षुषे स्वाहा, सम्पदे स्वाहा," मन्त्रसे आहुति देकर पहलेकी भाँति बचे हुए घृतको मन्थमें डाल दें।

तदनन्तर "श्रोताय स्वाहा, आयतनाय स्वाहा, मनसे स्वाहा, प्रजायै स्वाहा, रेतसे स्वाहा, अग्ने स्वाहा, भूः स्वाहा, स्वः स्वाहा, भूर्वुवः स्वः स्वाहाः, क्षत्राय स्वाहा, भूताय स्वाहा, भविष्यते स्वाहा, विश्वाय स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा," इत्यादि क्रमपूर्वक पूर्वोक्त विधि से होम करे।

तत्पश्चात् मन्थका स्पर्श करे। मन्थद्रव्यका अधिष्ठातृ देवता प्राण है। इसलिये प्राणके साथ एकरूपताके कारण वह सर्वात्मक है। तुम प्राणस्वरूप होनेके कारण सभी देहोंमें भ्रमणशील हो, अग्निरूप होनेके कारण सर्वत्र प्रज्ज्वलित हो, ब्रह्मरूप होनेसे पूर्ण हो, आकाशरूप होनेसे अत्यन्त स्तब्ध (निस्कम्प) हो। तुम यज्ञके प्रारम्भमें प्रस्तोताके द्वारा हिंकृत-गाया जानेवाला उद्गीथ हो, तुम्हीं हिंक्रियमान हो, उद्गाता द्वारा उच्चस्वरसे गीत; अध्वर्यु-द्वारा श्रावित और आग्नीध्र द्वारा प्रत्याश्रावित हो, आर्द्र (बादलोंमें) सम्यक प्रकारसे दीप्त हो; तुम्हीं विभु और तुम्हीं प्रभु हो। तुम्हीं भोक्ता, सबके कारणरूपमें प्रलय स्थान और संहारकर्ता होनेके कारण संवर्ग भी हो।

तत्पश्चात् "आमंसि आमंहि ते महि स हि राजेशानोऽधिपतिः स मां राजेशानोऽधिपतिं करोतु इति" अर्थात् तुम सब जानते हो, मैं तुम्हारी महिमा

को भलीभाँति जानता हूँ। वह प्राण राजा, ईशान और अधिपति है। वह मुझे राजा, ईशान और अधिपति करे। इस मन्त्रसे मन्थको ऊपर उठावे।

इसके पश्चात् "तत्सवितुर्वरेण्यं"—इस मन्त्रसे मन्थको भक्षण करे। अर्थ—सूर्यके उस वरेण्य—श्रेष्ठपदका ध्यान करता हूँ। पवन मधुर मन्द गतिसे प्रवाहित हो रहा है, नदियाँ मधुर रसका स्राव कर रही हैं, हमारे लिये औषधियाँ मधुर हों,—ऐसा कह कर मन्थका प्रथम ग्रास भक्षण करे। मैं सवितादेवके तेजका ध्यान करता हूँ, रात और दिन मधुमय हों, पृथ्वीके धूलिकण मधुमय हों, पिता, द्युलोक मेरे लिये सुखकर हो—ऐसा कह कर मूल मन्त्रसे दूसरा ग्रास भक्षण करें। 'धियो यो नः प्रचोदयात्' (जो सविता देव मेरी बुद्धि-वृत्तिके प्रेरक हैं) इस मन्त्रका उच्चारण करते हुए, वनस्पतियाँ मधुमय हों, सूर्य मधुमान हों, किरणें और दिशाएँ सुखकर हों, ऐसा कहें। तत्पश्चात् पूर्ण गायत्री मन्त्र और 'मधुवाता ऋतायते' सम्पूर्ण मन्त्र पाठकर मूलोक्त मन्त्रसे तृतीय ग्रास भक्षण करे।

इस मन्थका उद्दालक अरुणिने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्यको, याज्ञवल्क्यने अपने शिष्य मधुक पैंगको पैङ्गको, पैङ्गने अपने शिष्य चूल भागवित्तिको, चूल भागवित्तिने अपने शिष्य जानकि आयस्थुणको, जानकि आयस्थुणने सत्यकाम जाबाल को और सत्यकाम जाबालने अपने शिष्योंको उपदेश दिया था। यदि कोई इस मन्थको सुखी लकड़ीके ऊपर फेंक दे, तो उसमेंसे शाखाएँ और पत्तियाँ निकल आयेंगी। इस मन्थका, जो शिष्य या पुत्र न हो, उसे उपदेश न करे। यह मन्थकर्म चार औदुम्बर काष्ठ (गूलरकी लकड़ी) से बनता है। औदुम्बर का स्रुवा औदुम्बरका चमस, औदुम्बरका इध्म और औदुम्बरकी दो उपमन्थनी होती है। इसमें धान, जौ, तिल, उड़द, सावाँ, काँगनी, गेहूँ, मसूर, बाल और कुलथी—ये दस ग्रामीण अन्न उपयुक्त होते हैं। इन्हें पीसकर दही, मधु और घृतमें मिला कर हवन करनेकी विधि है। चराचर समस्त भूतों का सार या आधार पृथ्वी है। पृथ्वीका सार जल है, जलका सार—उस पर निर्भर करनेवाली औषधियाँ हैं, औषधियोंका रस या सार पुष्प है, पुष्पका सार फल है, फलका सार पुरुष है और पुरुषका सार शुक्र है।

प्रजापतिने विचार किया कि इस शुक्रकी उपयुक्त प्रतिष्ठाके लिये कोई आधार चाहिये। इसलिये स्त्रीकी सृष्टि की। यदि यह कहा जाय कि इस पाशविक क्रियामें तो प्राणिमात्रकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है, इसके लिये विधान क्यों किया गया, तो इसका उत्तर है—स्वेच्छाचारिताका निरोध करनेके लिये और संतानोत्पत्ति-विज्ञानको जानकर सच्चरित्र संतान पैदा करनेके लिये ही विवाह आदि विधियोंकी आवश्यकता है। जो लोग इस विज्ञानको नहीं जानते तथा यथेच्छाचार करते हैं, उनकी इस लोक और परलोकमें सर्वत्र ही दुर्गति होती है।

विवाहित व्यक्तिको ब्रह्मचर्य धारण कर स्त्रीके ऋतुकालकी प्रतीक्षा करनी चाहिये। ऋतुकालकी तीन रातोंके बीत जाने पर स्नानादिसे शुद्ध हुई स्त्री के निकट उपस्थित होकर मूलोक्त मंत्रका पाठ और जप करना चाहिये।

यदि कोई यह चाहे कि मुझे गौर वर्णका एक वेद-अध्ययनशील और सौ वर्षकी आयुवाला पुत्र हो, तो दूध और चावलकी खीर पकाकर उसमें घी डाल कर उसे स्त्री और पुरुष दोनों ही भोजन करें। कपिल वर्ण, दो वेदोंका अध्ययन करनेवाला और पूर्णायुवाला पुत्रकी कामना होने पर दधिमें चावल पका कर भोजन करना चाहिये। श्याम वर्ण, लाल नेत्रवाला, तीन वेदोंका अध्ययन करनेवाला पूर्णायुका पुत्र चाहनेवालेको जलमें पके हुए चावलको घृतसिक्त कर भोजन करना चाहिये। यदि कोई पूर्णायु विदुषी कन्या चाहता हो तो उसे तिल और चावलकी खिचड़ी बना कर भोजन करना चाहिये। प्रसिद्ध पण्डित, वेदवादी, वाग्मी, समस्त वेदाध्ययनशील पूर्णायु पुत्रकी इच्छा होने पर उड़द और चावलको पका कर उनमें औक्षन् और ऋषभ नामक औषधियों को मिला कर भोजन करना चाहिये।

गर्भाधान करनेवालेको प्रातःकाल ही स्थालीपाक विधिके अनुसार घीका संस्कार करके और चरुपाक बना कर 'अग्नये स्वाहा' अनुमतये स्वाहा और 'देवाय सत्यप्रसवाय स्वाहा', इन मंत्रोंसे अग्निमें आहुतियाँ देनी चहिये। होम समाप्त करके चरुमें बचा हुआ भोजन करके रोप पत्नीको भोजन कराना चाहिये। फिर हाथ धोकर 'उतिष्ठातो विश्वासोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां स जाया पत्या सह' मंत्र के द्वारा पत्नीका तीन बार अभिसेचन करना चाहिये।

पुत्रका जन्म हो जाने पर अग्नि स्थापन करके पुत्रको गोदमें लेकर आज्यस्थलीमें दधि और घी मिलाकर मूलोक्त मंत्रसे बारबार होम करना चाहिये। तत्पश्चात् पुत्रके दाहिने कानमें मुख लगा कर तीन बार 'वाक्, वाक्, वाक्' मंत्र उच्चारण करना करना चाहिये तथा दधि, मधु और घी मिलाकर होम करना चाहिये।

तदनन्तर 'वेदोऽसि' कह कर पुत्रका नामकरण करना चाहिये। 'वेद'—यह नाम अत्यन्त गोपनीय है, सबके सामने इसे प्रकाश नहीं करना चाहिये। इसके बाद माताकी गोदमें उस शिशुको रख कर और स्तन देकर मूल मंत्रसे यह प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे सरस्वती। तुम्हारा स्तन दूधका अक्षय भंडार और पोषणका आधार है, जो रत्नोंकी खान है तथा सम्पूर्ण धनराशिका ज्ञाता एवं उदार दानी है और जिसके द्वारा तुम समस्त वरणीय पदार्थोंका पोषण करती हो, तुम इस सुपुत्रके जीवन-धारणार्थ उस स्तनको मेरी भार्यामें प्रविष्ट करा दो।'

इस प्रकार के विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न ब्राह्मणके जो पुत्र होता है, वह श्री, यश और ब्रह्मतेजके द्वारा सर्वोच्च स्थितिको प्राप्त कर लेता है।

—त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भुदेव श्रौती महाराज

श्रीमद्भागवतमें "दास्यभाव"

भक्ति क्षेत्रमें दास्यभाव एक अनुपम महोदधि है, जिसमें युगों-युगोंसे सगुण निर्गुण वैष्णव भक्त, सद्गृहस्थ, त्यागी, संन्यासी और व्रजवासी अवगाहन करते आ रहे हैं। दास्यभाव, वह अमृत है—जिसका पान कर अनेकों अमर हो चुके हैं। दास्यभाव वह अविनाशी निरन्तर प्रकाशमान त्रिकाला-बाधित ज्योतिपुञ्ज है, जिसके समक्ष मायाका निविड़ अन्धकार स्थित ही नहीं रह सकता। यह मालामें सूत्रके समान, नवधा भक्तिमें एवं सभी रसमयी उपासनाओंमें समाया हुआ है। इसका प्रभाव और प्रसार अति व्यापक है। सख्य, वात्सल्य और माधुर्य में भी यह अप्रकटरूपसे झाँकता-सा दीख पड़ता है।

दास्यका शाब्दिक अर्थ है—सर्वाङ्गीणरूपसे मन, वाणी और कायाको प्रभुकी परम सेवामें समर्पित करना। 'प्रभु सेवामें किसी भी प्रकारकी त्रुटि न हो, अहर्निश किसी भी प्रकारकी बाधा न आ पड़े, इसका सतत् ध्यान रखना, अपनेमें सामर्थ्य की चरम सीमा होने पर भी स्वामीकी शक्ति द्वारा ही मैं शक्तिमान हूँ इसका वास्तविक अनुभव करना, मेरे जीवनका, मेरी संचालन-शक्तिका, मेरी इन्द्रियों का तार परमप्रभुसे जुड़ा हुआ है, ऐसा सिद्धान्ततः हो जाना।

जिस प्रकार शरीरमें आत्माके रहने पर ही हस्त, पाद, मुख और नासिका आदि अपना-अपना कार्य करते हैं, परन्तु आत्माके न रहने पर शरीरके होने पर भी इन्द्रियाँ किसी भी प्रकारकी सामर्थ्य नहीं रखतीं, उसी प्रकार मेरे शरीरमें प्रभुका निवास है। यह शरीर उन्हींके द्वारा संचालित है। पूर्णतः अनुभव कर लेना।

दासको क्या करना है, उसका कर्त्तव्य अकर्तव्य क्या है, यह दासत्व स्वीकार करने पर उसे नहीं सोचना पड़ता। उसके सम्बन्धमें सब कुछ प्रभु सोचते हैं। इस दास्यभावको दूसरे शब्दोंमें आत्म-समर्पण कहें तो और भी विषयकी दृढ़ता या पुष्टि ही होगी। दास्यभाव आत्म समर्पणकी ही अन्तिम श्रेणी है।

परन्तु इसका उदय सभीके हृदयमें नहीं होता, न सभी इसके अधिकारी ही होते हैं; क्योंकि जीव माया के कीचड़में आमूल-चूल फँसा हुआ है। उसे न कुछ दीखता है, न कुछ सुनाई ही देता है। वह उन्मत्तसा बन रहा है। इसके अधिकारी वही हैं—जिनके हृदयमें कोमलता है, सरसता है, युगों-युगों से सद् वैष्णवोंके मुख-विवर निसृत निर्झरिणी जिनके हृदयोंको आर्द्र करती रही है और जिनके पूर्व संचित पुण्य हैं, उन्हीं साधकोंको दास्यभावका प्रसाद मिलता है। सद् वैष्णव एवं सद्गुरु ऊसर भूमिको भी उर्वरा बना देते हैं। इस भावको प्राप्त करने पर मोह, ममता, अहं भाव और मिथ्या दम्भ एक-एक करके शरीरसे बिदा होने लगते हैं।

यह महान् उच्च कोटिका भाव है। इसीसे प्रभु या सद्गुरु भी परख-परखकर ही अधिकारी जीव को इसे प्रदान करते हैं। क्योंकि इसकी साधना बड़ी

जटिल है। इसमें निरन्तर प्रभु सेवाका ही ध्यान रखना पड़ता है। प्रभुके सुखमें ही अपना सुख मानना पड़ता है। प्रभुकी दिनचर्या और रात्रिचर्या में अपनेको जोड़ देना पड़ता है। ऐसी स्थितिमें जीवके जीवनकी पतवार स्वयं स्वामीके करकमलों में होती है। उसे फिर किसी प्रकारकी चिन्ता अथवा शोक नहीं करना पड़ता। कौन नहीं जानता, परम भगवद्भक्त पाण्डवोंने अपनेको भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर दिया था, उन्हें युद्ध इत्यादि समस्त क्षेत्रोंमें ही अपने लिये कोई चिन्ता नहीं थी। कृष्ण को ही दैनन्दिन कार्य-कलापोंको देखना पड़ता था। इस प्रकारके अनेक उदाहरण यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं जहाँ करुणासागर नटनागरको उत्तरदायित्व लेकर उन्हें संभालना पड़ा था। क्योंकि आपने यह घोषणा जो की है कि—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(गीता अ. ९-श्लोक २२)

—जो अनन्यभावसे मेरे में स्थित हुए भक्तजन मुझ परमेश्वरका निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भावसे मेरी उपासना करते हैं, उन नित्य एकीभावसे मेरे में स्थित वाले पुरुषोंका मैं योगक्षेम स्वयं वहन करता हूँ।

इसलिये साधकका कर्त्तव्य है कि लज्जा, भय, मान, बड़ाई और आसक्ति त्यागकर शरीर और संसारकी अहंता और ममतासे रहित हो वह केवल एक परमात्माको ही अपना आश्रय परमगति सर्वस्व समझ अनन्य भावसे निरन्तर नाम, गुण, प्रभाव, स्वरूपका चिन्तन और सेवन करता हुआ उनकी आज्ञानुसार ही परम प्रभुके प्रीत्यर्थ समग्र आचरण करे। यह शरणागति और दास्यका ही स्वरूप है।

श्री व्रजेन्द्रनन्दनने अपने प्रिय अर्जुनसे संघर्ष-मयी युद्धभूमिमें अन्तमें यह कहा था—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८।६६)

—वर्णाश्रम आदि समस्त धर्मोंका परित्यागकर मुझ एककी शरणमें आ जा। मैं तुझे सारे पापोंसे मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर।

दास्यभावमें जब तक आत्मसमर्पणकी भावना सिद्ध नहीं होती, संसारके प्रत्येक पदार्थसे अपनापन दूर होकर स्वामीका ही सब कुछ है, यह विचार जाग्रत नहीं हो जाता, तबतक दास्य भावनासे साधक बहुत दूर है, बहुत दूर है। अनवरत साधना ही एकमात्र इसकी प्राप्तिका साधन है।

यहाँ हम दास्यके दो रूप स्थिर करें तो समझने में अधिक सौकर्य्य होगा। एक पूर्ण दास्य, दूसरा अपूर्णदास्य। पूर्णदास्यके अन्तर्गत सेव्य सेवकमें ऐक्यतान हो जाता है। शरीरतः भिन्नता रहने पर भी भावों-विचारों और कार्योंमें एकरूपता हो जाती है। जीवका सम्पूर्णरूपसे मैं उनका ही हूँ, यह भाव हो जाता है। वह गर्वके साथ दासोऽहमकी घोषणा करता है। उसका कार्य, उसका धर्म, उसका स्वभाव और उसकी गति-मति सब स्वामीके लिये हो जाती है।

अपूर्ण दास्यमें कुछ कामनाएँ और वासनाएँ मिश्रित रहती है। वह भगवानकी प्रार्थना करता है, उनकी स्तुतिकरता है, शरणागतिमें अग्रसर है, फिर भी संसारके विभिन्न पदार्थोंकी प्राप्तिको भी नहीं भूलता। वाचा प्रकट करने भी मनमें कुछ शरीरमें आत्म बुद्धि या संसारके अंकुर रहते हैं। यह मेरी स्त्री, यह मेरा पुत्र, यह मेरा धन, भगवत्सेवाके लिये है। यहाँ "मेरापन" किसी न किसी रूपमें विद्यमान है।

दास्यमें जीवका दैन्य, लघुत्व और आनुगत्यका परिचय मिलता है, तो दूसरी ओर स्वामीका पुरुषार्थ, महत्व, सर्वसामर्थ्य, विशालता, उदारता, दयालुता, अपार वैभव, शालीनता और पूर्णताका परिचय दिखाई देता है।

दास्यके अन्तर्गत विनयकी सात भूमिकाओंका संग्रह भी उपादेय है--दीनता, मानमर्षता, भयदर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारणा।

इन सभीका दर्शन भक्तोंकी दिनचर्यामें प्रकट रूपसे दीख पड़ता है। उनकीवाणीके द्वारा ये विकसित एवं फलित होते हैं।

श्रीमद्भागवत एक महोदधि है। अतः उसमें अन्य भावोंके साथ दास्यभावके भी कण बिखरे हुए हैं। ब्रह्मासे लेकर स्थावर जङ्गम-सभी जीवोंने किसी न किसी रूपसे तन्मनस्क होकर दास्य भक्तिके द्वारा अपने प्रभुकी आराधना की है।

दास्यभाव दो प्रकारका होता है—संभ्रम दास्य और गौरव दास्य। कृष्णके प्रति दास अभिमानसे युक्त जीवोंका कृष्णके प्रति संभ्रम दास्यभाव होता है। तथा कृष्णके प्रति गौरवयुक्त दास्यभाव ही गौरव दास्य कहलाता है। साधारण तरहसे चार प्रकारके दास होते हैं—(१) अधिकृत दास—जो सर्वदा नतभावसे प्रभु आज्ञापालनके लिये तत्पर रहते हैं, (२) आश्रितदास—जो सब समय आज्ञानुसार कार्य करते हैं, (३) पारिषद्—जो अत्यन्त विश्वस्त होते हैं और सब समय निकट रहते हैं, (४) अनुगत—जिसमें आनुगत्य और नम्रता अत्यधिक होती है।

ब्रह्मा, शिव, इन्द्र आदि अधिकृत दास हैं। ये लोग जगत व्यापारमें अधिकार प्राप्तकर भगवानकी सेवा करते हैं। आश्रितदास तीन प्रकार के होते हैं—(१) कालीय इत्यादि शरणागतदास हैं, (२) सौनकादि ऋषि ज्ञानीदास हैं और (३) पुण्डरीक आदि सेवानिष्ठ दास हैं। पारिषद्दास--उद्धव, सात्यकी, दारुक आदि पारिषद् दास हैं। अनुगत दास दो प्रकारके होते हैं—(१) पुरस्थित और (२) व्रजस्थदास। सुचन्द्र, मण्डल आदि द्वारकाके अनुगत दास हैं। रक्तक, पत्रक आदि व्रजके अनुगत दास हैं। इन सबको पुनः तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—(१) नित्य सिद्धदास, (२) साधन-सिद्धदास और (३) साधकदास।

श्रीमद्भागवतके प्रणेता भगवान् व्यास वेदविभाग कर तथा वेदान्त-सूत्र, महाभारत और पुराणोंको प्रकाशित करके भी चिन्तातुर और अतृप्त बने रहे।

अतृप्तिका कारण खोजने पर भी वे कुछ समझ न सके। दैवयोगसे उनके गुरु देवर्षि नारद वीणा बजाते हरिगुण गान करते व्यासके आश्रम पर

उपस्थिति हुए और व्याससे कुछ उद्विग्न और अतृप्त रहने का कारण पूछा। व्यासदेवने इसका कारण बतानेमें अपनेको असमर्थ बताते हुए नारदजीसे ही अपने अतृप्त रहनेका कारण तथा उसके निवारणका उपाय बतलानेकी प्रार्थना की। नारदजीने हँसते हुए कहा कि आपने वेदान्तसूत्र, महाभारत एवं अन्यान्य पुराणोंको जगतमें प्रकट करके उनमें अर्थ धर्म, काम और मोक्ष आदिका जिस रूपमें विवेचन किया है, उनमें उस प्रकारसे सर्वकारणकारण सर्व-शक्तिमान परमतत्व-वस्तु स्वयं-भागवान श्रीकृष्णकी एकान्त महिमाका, उनके नाम, रूप, गुण और लीला-कथाओंका वर्णन नहीं किया। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष सकैतव (छलयुक्त) धर्म है। इससे प्राणियोंका चरम कल्याण साधिक नहीं होता। भगवान्के गुणानुवादोंके द्वारा उनकी लीला-कथाओं तथा नामोंके श्रवण-कीर्तन आदिके द्वारा ही जीवों का यथार्थ कल्याण साधित होता है। इन्हींके द्वारा जीव भगवान्के शरणागत होकर उनका दासत्व लाभकर मायासे सदाके लिये मुक्त होकर भगवान् की सेवामें नियुक्त होता है। ऐसा जीव ही परम शान्ति और स्वाभाविक प्रेमानन्दको प्राप्तकर सार्थक हो जाता है। अतः जो रचना भगवानकी स्तुति, उनके नाम, रूप, गुण और लीला - कथाओंकी माहिमासे रहित है, वह शोभित नहीं होती—

अथोमहाभाग! भवानमोघदृक् शुचिश्रवा सत्यरतो धृतव्रतः।
उरुक्रमस्याखिलबन्ध मुक्तये समाधिनानुस्मरतद्विचेष्टितम्॥
भा. प्र. अ. ५, श्लोक १३

—अतः हे महाभाग ! अमोघदृष्टि, पवित्रकीर्ति एवं सत्यमें प्रीतियुक्त व्रतधारण करनेवाले आप आत्मियोगके द्वारा पवित्र हुए चित्तको समाधिस्थ कर भगवानके तत्वका यथार्थ रूपमें दर्शन करें तथा उसीका आप जीवोंके लिये वर्णन करें।

अपने लौकिक धर्मोंको छोड़कर भी जीव भगवान् की भक्ति करता हुआ कभी संसार-बन्धनको प्राप्त नहीं होता। हमें जीवनमें उसी भगवद्भक्तिको संग्रह करना चाहिये, जिसके द्वारा जीव संसारके त्रितापपूर्ण आवागमनसे सदाके लिये छुटकारा पाकर नित्य शान्ति एवं शाश्वत सुखको प्राप्त होता है। जीवका यही स्वरूपगत धर्म है। विषय सुख तो कीट पतङ्गसे लेकर ऊँचेसे ऊँचे प्राणियों तकको मिल ही जाते हैं। उनके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है, वह तो समयानुसार मिल ही जाते हैं। अतः आप स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी ही उपासना कीजिये। इसीके द्वारा आपको अनायास ही शान्ति उपलब्ध होगी। इस विषयमें अपना पूर्व जीवन चारित्र आपको सुना रहा हूँ—

मैं पूर्व जन्ममें दासी पुत्र था। सतत उपासना एवं भगवद् गुण गानके द्वारा ही मेरा परिवर्त्तन हुआ और आजमें इस स्थिति पर हूँ। जब मैं बहुत छोटा था, उस समय हमारे गाँवमें ही कुछ वैष्णव सन्त उपस्थित हुए और अनुकूल स्थान समझकर वहीं भगवद् गुणगानमें चातुर्मास्य व्रत किया। मेरी माता स्वयं उनके बर्तन आदि माँजनेकी सेवा करती हुई मुझ छोटेसे बालकको भी उन वैष्णव सन्तोंकी सेवामें रख दिया। मैं भी माताकी आज्ञा का पालन करता हुआ परम उत्साहसे उनकी सेवा करने लगा।

ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भके दान्तेऽधृतक्रीड्नुकेनुवर्तिनि चक्रुः कृपां यद्यपितुल्यदर्शनाः शुश्रूषमाणे मुनयोऽल्पभाषिणि उच्छिष्टलेपाननुमोदितोद्विजैः सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतस स्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायतामनुग्रहेणाश्रृणवं मनोहराः ताः श्रद्धयामेऽनुपदं विशृण्वतः प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रुचिः

(भा. १।५ २४-२६)

मैंने चपलता त्याग दी और जितेन्द्रिय हो क्रीड़ाके साधनोंका परित्याग कर उन मुनियोंकी परिचर्या करने लगा। तब यद्यपि वे मुनि लोग समदर्शी थे, तथापि सेवा करते हुए मुझ अबोध बालक पर उन्होंने कृपा की। उनके पात्रोंमें जो उच्छिष्ट बच रहता था, उसे मैं उनकी आज्ञासे एक बार प्रसादके रूपमें पा लेता। उस प्रसादके प्रभाव से मेरे सब पाप दूर हो गये। इस तरह प्रवृत्त होनेसे मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया और मेरी भागवत-धर्ममें रुचि हुई।

मैं अब नित्य उनकी परिचर्यामें रहता हुआ भगवानकी कथा सुनता। उससे भगवानके चरणोंमें दृढ़ बुद्धि और भक्ति भी उत्पन्न हुई। सन्तोंकी दास्य भक्तिसे हृदयकी अविद्या दूर हो गई और मैं भगवानकी मायाके स्वरूपको भी पहिचान सका।

चातुर्मास्य पूर्ण होने पर वैष्णवगण वहाँसे पधार गये। मेरी माता मूर्ख स्त्री थी। वह मुझ पर अधिक स्नेह करती थी। पर वह पराधीन रहनेके कारण मेरा लालन-पालन अच्छी प्रकारसे नहीं कर पाती थी। एक दिन उस बेचारीको गाय दूहनेके समय सर्पने काट खाया। मैंने भगवानकी कृपा माना और मैं उत्तर दिशाकी ओर चल पड़ा। कई स्थानोंको पार करता हुआ मैं एक भयानक वनमें पहुँचा। जहाँ सभी प्रकारके हिंसक जन्तु इधर-उधर घूम रहे थे, वहाँ एक नदीके पासके कुण्डमें स्नान कर, अपनी प्यास बुझा, एक पीपलके वृक्षके नीचे बैठ कर—

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भाव निर्जित चेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मेशनैः हरिः॥

(भा. १।६।१७)

मैं भक्तिसे वशीकृत चित्त हो वैष्णव सन्तोंकी बतलाई हुई विधिसे भगवान श्रीहरिके चरण कमलों का ध्यान करने लगा। उस समय उत्कण्ठासे मेरे नेत्रोंमें जल भर आया और हृदयमें भगवानका प्राकट्य हुआ।

प्रेमातिभरनिर्भिन्न पुलकाङ्गोति निर्वृतः।
आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने॥

(भा. १।६।१८)

प्रेमके अतिभारसे शरीर पुलकित हो उठा, मुझे ऐसा परमानन्द प्राप्त हुआ कि अपने-परायेका भी ध्यान नहीं रहा।

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभ हतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथाऽऽत्माद्धा न शाम्यति॥

(भा. १।६।३६)

बार-बार काम लोभसे जिस जीवका चित्त हरण हो चुका है, उसका चित्त जैसा मुकुन्द भगवानकी सेवासे शान्त और प्रकृतिस्थ होता है, वैसा यम-नियम आदि योग-साधनोंसे नहीं।

इस प्रकार नारदजी अपनी जीवनचर्या तथा भगवानके माहात्म्यका वर्णन कर पधार गये।

अनन्तर नारदके आदेशानुसार भगवान् वेद व्यासने भक्तियोगसे निश्चल व निर्मल मनमें भगवानके दर्शन किये तथा भगवानके अधीनस्थ मायाको देखा, जिसके अधीन होकर जीव विविध यातनाएँ भोगते हैं। इसके निवारणका यदि एकमात्र उपाय है तो भक्तियोग है, ऐसी दृढ़ निष्ठाके साथ सोचा और भागवत संहिताका प्रकाश किया।

वास्तवमें श्रीमद्भागवतमें दास्यभक्ति सर्वत्र ही ओत-प्रोत है। जो युगों-युगोंसे जीवोंके उद्धारका साधन है कि—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूत गुणो हरिः॥
भा० १।७।१०

—आत्माराम अहंकाररूप ग्रन्थरहित मुनिजन श्रीभगवानकी अहैतुकी भक्ति करते हैं क्योंकि भगवान के गुण ही ऐसे हैं—

हरेर्गुणाक्षिप्तमति र्भगवान् बादरायणिः।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः॥
भा० १।७।११

—हरि भगवानके गुणोंसे बुद्धि खिंच जानेके कारण सदा भगवदीय जनोंके प्यारे भगवान शुक मुनिने इतनी बड़ी भागवत संहिता पढ़ी।

अश्वत्थामाने एक समय विरोधके वशीभूत होकर अभिमन्युकी स्त्री उत्तरा पर ब्रह्मास्त्रका पाण्डव-रहित भूमि करनेके लिए प्रयोग किया। उसका निवारण अशक्य था। उत्तरा अनन्यरूपसे भगवानकी शरणागत हो प्रार्थना करने लगी—

पाहि पाहि महायोगिन् देव देव जगत्पते।
नान्यंत्वदभयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम्॥
भा० १-८-९

—हे महायोगी! हे देव-देव! जगत्पते! त्राहि-त्राहि रक्षा करो। जिस लोकमें परस्पर मृत्यु होती हैं उस लोकमें तुम्हारे बिना शरण देनेवाला, अभय देनेवाला कोई दूसरा मुझे नहीं दीखता।

श्रीकृष्णने पुकार सुनकर स्वयं गर्भके चारों ओर होकर ब्रह्मास्त्रसे उत्तराके गर्भ-स्थित महाभागवत परीक्षितकी रक्षा की।

भक्तिमती कुन्ती सदैव भगवानकी उपासनामें निरत रहती थी। उसका कथन था, "हे प्रभु! हम पर सदैव विपत्तियाँ आती रहें; जिससे शीघ्र से शीघ्र आपके चरणकमलोंके दर्शन हों।" कुन्तीकी स्तुति श्रीमद्भागवतकी एक निधि है।

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमोनमः॥
नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने।
नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये॥
भा० १।८।२१,२२

—कृष्ण! वासुदेव! देवकीनन्दन! गोपकुमार! गोविन्द! मैं आपको बार बार नमस्कार करती हूँ। हे पद्मनाभ! हे कमलोंकी माला धारण करने वाले, कमलनयन, कमलके समान चरणवाले! मैं आपको बार बार नमस्कार करती हूँ।

दास्यभक्तिके प्रसङ्गमें महामना भीष्मको भी नहीं भूला जा सकता। वे अन्य स्वरूपकी शरणागति प्राप्त करनेके इच्छुक नहीं रहे। अपूर्व सौन्दर्य-

मयी अर्जुन-सारथिकी उपासनामें अपनेको समर्पित करना चाहते हैं। शरशय्यामें पड़े प्रार्थना करते हैं-

त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं रविकर गौरवराम्बरं दधाने।
वपुरलककुलावृताननाब्जे विजयसखे रतिरस्तुमेनवद्या॥
(भा. १।९।३३)

—त्रिलोकीमें अति सुन्दर तमालपत्र-सा श्याम-वर्ण धारण किये सूर्यकी किरणोंके समान उत्तम पीताम्बर कटिमें पहिने मुखकमलपर जिनकी अलकावलि घूम रही है, ऐसे अर्जुनके सारथीमें, मेरा निष्काम प्रेम हो।

इतना ही नहीं वह अपने स्तुति-प्रसङ्गमें "चरण रतिः परमस्यतस्यमेस्तु" "भगवान गतिर्मुकुन्दः" कहकर अपनी अनन्यताका परिचय देते हैं।

भीष्मको उस बातका स्मरण हो आता है, जब भगवानने महाभारतमें अस्त्र न धारण करनेकी प्रतिज्ञा की थी। पर मेरी प्रतिज्ञाकी रक्षाके पीछे प्रभु अपनी प्रतीज्ञाको भी भूल गए!

स्वनिगममपहायमत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः।
धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चद् गुर्हरिरिव हन्तुमिभंगतोत्तरीयः॥
(भा. १।९।३७)

—मैं शस्त्र धारण नहीं करूँगा। ऐसी अपनी प्रतिज्ञाको छोड़कर श्रीकृष्णको शस्त्र धारण करवाऊँगा। ऐसी मेरी प्रतिज्ञाको सत्य करनेके लिये प्रभु रथमें बैठे थे, सो वहाँसे नीचे उतरे, रथका पहिया हाथमें ले, पृथ्वीको चलायमान करते, जैसे सिंह हाथीको मारने दौड़े वैसे मुझपर दौड़ आए और उसी क्रोधसे जिनका उत्तरीय पृथ्वीपर गिर गया।

यह नटखट दास्यभक्त थे। उन्हें अपनी भक्तिपर गर्व था। उसे लीला निकेतन श्रीकृष्णने ही तो बढ़ाया था। वह समझता था मेरी अनन्य शरणागति सब कुछ कर सकती है।

दास्यमें भी अर्जुनका भी नाम लेलें तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। श्रीमद्भागवत् गीतामें तो उसने स्पष्ट रूपसे "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" का प्रयोग किया है।

भागवतमें भी अन्तर्धानके प्रसङ्गमें ऐसा लिखा है—

एवं चिंतयन्तो जिष्णोः कृष्णपाद सरोरुहम्।
सौहार्देनातिगाढेन शान्ताऽऽसीद् विमला मतिः॥
(भा. १।१५।२८)

—श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंका ध्यान करते हुए अर्जुनकी बुद्धि अति गाढ़ सुहृदभावसे शान्त और निर्मल होगई।

(क्रमशः)

—वागरोदी श्रीकृष्णचन्द्र शास्त्री, साहित्यरत्न काव्यतीर्थ

श्रीश्रीगौरांग आविर्भाव महोत्सव

परमानन्द भगवान् श्रीगोविन्द पूर्णतम स्वरूप हैं। वे नित्य गोपकुमार हैं। गोपीजन वल्लभ और वृन्दाविहारी हैं। वे एक कल्प अर्थात् श्रीब्रह्माजीके एक दिनमें एक बार इस जगतमें अवतीर्ण होकर अपनी विचित्र अप्राकृत लीला को प्रकट करते हैं।

वे ही परमानन्द श्रीहरि द्वापर युगके अन्तमें सपरिकर अवतीर्ण हुए थे और १२५ वर्षों तक अपने लीला-विलासको जगतमें प्रकट रखकर तदनन्तर सपरिकर अपनी नित्य अप्रकट लीलामें प्रवेश कर गये। अनन्तर गोलोकमें बैठकर आप-ही-आप सोचने लगे—

चिरकाल नाहि करि प्रेम भक्ति दान।
भक्ति बिना जगतेर नाहि अवस्थान॥
सकल जगते मोरे करे विधि-भक्ति।
विधि भक्त्ये व्रजभाव पाइते नाहीं शक्ति॥
ऐश्वर्य ज्ञाने सब जगत मिश्रित।
ऐश्वर्य शिथिल प्रेमे नाही मोर प्रीत॥
(श्रीचैतन्य चरितामृत)

'अहो! मैंने बहुत समय तक मर्त्यलोकमें विलास किया; किन्तु अब तक किसीको भी अपना शुद्ध व्रज-प्रेम नहीं दिया। मैंने जो कुछ लीला की है, सब अपने नित्य परिकरोंके साथ ही की है। नित्य व्रजवासियोंकी मेरे प्रति जो प्रीति है, वही शुद्ध प्रीति है। व्रजके बिना अन्यत्र कहीं भी मेरी शुद्ध प्रीति नहीं है और न कोई उसे जानता ही है।

समग्र जगत मेरी वैधी भक्ति करता है। उस भक्ति में उनका मेरे प्रति ऐश्वर्य ज्ञान होता है। वैधी-भक्तिके द्वारा व्रज-भावकी प्राप्ति दुर्लभ है। साथ ही ऐश्वर्य-ज्ञानसे मिश्रित प्रेम, शिथिल-प्रेम है। शिथिल प्रेमसे मुझे संतोष नहीं होता। मुझे तो केवल विशुद्ध प्रेमसे ही संतोष मिलता है, जो केवल व्रजभावमें ही निहित है।

मैंने अब तक किसीको भी वह व्रजभाव नहीं दिया। मेरे प्रिय व्रजवासियोंके अतिरिक्त और किसीमें भी व्रजभाव देनेकी शक्ति नहीं है। अब मैं वही व्रजभाव—प्रेमभक्ति सबको वितरण करूँगा और स्वयं भी उसका आस्वादन करूँगा अहो। व्रजगोपियाँ मेरे नाम और लीला-कथाओं का गान करते-करते सर्वथा तन्मय हो जाती थीं, उसी रसका मैं अब स्वयं आस्वादन करना चाहता हूँ। परन्तु अपने विषय जातीय भावसे उस रसका आस्वादन नहीं कर सकता। अतः मैं आश्रय जातीय गोपिकाओंके (श्रीमती राधाके) भावको ग्रहण करूँगा।' परमानन्दमय श्रीहरि मन-ही-मन इस प्रकार विचार करके इस कलियुगमें श्रीगौरांग रूपमें (श्रीशचीनन्दन रूपमें) आविर्भूत हुए हैं।

अनन्त लीलामय श्रीहरि किसलिये अवतीर्ण होते हैं, इसे सहज ही नहीं जाना जा सकता है। जब ब्रह्मा और शिव भी उसे नहीं जान पाते तो औरोंकी तो बात ही क्या है। भगवानके अन्यान्य अवतारोंमें श्रीगौरांग अवतारका अत्यन्त अधिक महत्त्व है। विज्ञजन ऐसा समझते हैं कि

श्रीकृष्णावतार माधुर्यमय है, परन्तु वे यह नहीं जानते कि श्रीगौरांगावतार माधुर्यके साथ-साथ औदार्य भावसे युक्त हैं।

त्रिभुवन-पावनी भगवती भागीरथीके पूर्वीतट पर नवद्वीप नामक एक दिव्य नगरी सुशोभित है। वह महा-नगरी सर्वविध ऐश्वर्यसे परिपूर्ण है। लगभग ५०० वर्ष पूर्व वहाँ ब्राह्मण लोगोंका निवास अधिक था। स्थान-स्थान पर वणिक लोगोंके सुरम्य भवन आदि भी दृष्टि-गोचर होते थे। उस समय वह नगरी समस्त भारतवर्ष में संस्कृत विद्याका सर्वश्रेष्ठ केन्द्र थी। उस समय वहाँ जगन्नाथ मिश्र नामके बड़े एक सदाचारी निखिल वेद-विद्याविद् भागवत श्रेष्ठ ब्राह्मण वास करते थे। उनकी पत्नीका नाम श्रीशची देवी था। उनके गर्भसे श्रीमिश्रजी को आठ लड़कियाँ हुईं, लेकिन वे सभी एक-एक कर मर गईं। परन्तु धीर श्रेष्ठ श्रीजगन्नाथ मिश्र उससे दुःखित न हुए। वे एकान्तमें श्रीहरिका स्मरण करते थे। उनकी भक्तिसे भगवान बड़े प्रसन्न हुए। कुछ ही दिनोंमें शची देवी को एक पुत्र पैदा हुआ। यह लड़का साक्षात् संकर्षणका अवतार था, उसका नाम था—श्रीविश्वरूप।

तदनन्तर १४०७ शकाब्दमें भगवान स्वयं श्रीशचीमाता के गर्भ-सिंधुसे प्रकट हुए। फाल्गुनी पूर्णिमाकी संध्याका समय था; चन्द्र-ग्रहण भी लगा हुआ था। सब लोग हरि-ध्वनि कर रहे थे; भगवान श्रीकृष्ण श्रीनामके साथ श्रीगौरांग रूपमें अवतीर्ण हुए। जब श्रीनामी स्वयं ही प्रकट हों तो लोग हरिनामका कीर्तन क्यों नहीं करेंगे? विश्व हरि-हरि ध्वनिसे मुखरित हो उठा। श्रीशचीदेवी की गोदमें गौर भगवान् किलकारियाँ भरने लगे। नारियों का समूह नवजात शिशुके दर्शनोंके लिये उमड़ पड़ा। सभी आश्चर्य-चकित होकर कहने लगीं—"दीदी! यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि यह कोमल शिशु हरिनाम सुनकर हँसता है, कभी रोता नहीं और खिले हुए कमल-पुष्प सदृश नेत्रोंसे देखने लगता है। भई! हमने ऐसा कभी नहीं देखा। अहा! इसका रङ्ग तो देखो, कैसा तपाकनान सोनेकी भाँति निखर रहा है। देखो तो सही, उसके स्नेहमें हमारे स्तनोंसे दूधकी धारा बहने लगी है और नेत्रोंमें प्रेमाश्रु उमड़ रहे हैं। शची! इस नवजात शिशुका पालन-पोषण बड़ी सावधानीसे करना। यह बालक कोई साधारण बालक नहीं है, यह भविष्यमें कोई बड़ा महापुरुष होगा।"

इसी समय शान्तिपुरसे श्रीअद्वैताचार्यकी पत्नी श्रीसीता ठाकुरानी पधारीं। श्रीजगन्नाथ मिश्रने उनके श्रीचरण-कमलोंकी पूजा की और उनका सत्कार किया। फिर सब ब्राह्मण पत्नियोंने उनसे, नवशिशुको देखने तथा उसे आशिष देनेके लिये निवेदन किया। श्रीसीता ठाकुरानीजी सूतिका गृहके द्वार पर आयीं और दूरसे ही बालकको देखकर ठगी सी रह गयीं। उस समय श्रीशचीमाताके ललाटमें सिंदूरका बिन्दु पूर्ण चन्द्रके समान शोभित हो रहा था। सारे अङ्गोंसे सौन्दर्यकी किरणें फूट-फूट कर सर्वत्र बिखर रही थीं। उनकी अरुण-वर्णकी साड़ीके नीचे गौर वर्णका नवजात शिशु बड़ा ही सुहावना लग रहा था। श्रीसीता ठकुरानी सूतिका द्वार पर आनन्दित होकर बालककी प्रशंसा करते-करते एक आसन पर बैठ गईं। तब श्रीशची देवीने सिर झुकाकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया और वे नवजात शिशुके लिये आशीर्वाद माँगने लगीं।

नवजात शिशुकी आँखें बड़ी-बड़ी तथा भुजाएँ अजा-

लम्बित थीं। त्वचा, केश, अंगुलियोंके पर्व, दन्त तथा कपोल सूक्ष्म थे। नेत्र पदतल, करतल, तालु, अधर, होठ और नख अरुण कमलके समान लाल थे। वक्षस्थल, स्कंध, नख, नासिका कटि और मुख कूर्मपृष्ठके समान ऊँचे उठे हुए थे। ग्रीवा, जंघा और मेहन ह्रस्व थे। कटि, ललाट और वक्ष विस्तीर्ण थे। नाभि, स्वर, सत्व गंभीर थे। महापुरुषके जितने लक्षण होते हैं, वे सब इस अलौकिक शिशुके अङ्गोंमें दृष्टिगोचर होते थे। शिशुके चरण-तल और कर-तलोंमें शंख, चक्र, गदा, पद्म, यव, ध्वज, मीन और रथकी दिव्य रेखाएं थीं। जिन्हें देख श्रीसीता-ठकुरानी बड़ी चकित हो गईं और समझ गईं कि यह बालक और कोई नहीं परन्तु श्रीकृष्णचन्द्र ही हैं।

श्रीसीता ठकुरानीजी कृष्ण लीलाकी योगमाया पौर्णमासी हैं। वे त्रिकालज्ञ और बड़ी विदुषी है। श्रीठाकुरानी ने बड़े प्रेमसे शिशुको गोदमें ले लिया। उस समय वे कृष्ण स्पर्शका सुख अनुभव करने लगी और वात्सल्य रससे उनका हृदय परिपूर्ण हो गया। उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगा तथा स्तनोंसे दूधकी धारा बहने लगी। वे बारम्बार उस दिव्य शिशुको वक्षमें धारणकर उसके मुखका चुम्बन और मस्तिष्कका आघ्राण करने लगीं। ऐसा देख कर सभी स्त्रियां आनन्दसे "हरि बोल-हरि बोल" की ध्वनि करने लगीं। मिश्रजीका गृह गोलोक जैसा सुखमय हो गया। स्वर्गपुरी से देव देवियां मनुष्य रूप धारण कर शिशुरूपी कृष्णका दर्शन करने लगीं।

अनन्तर सब ब्राह्मणियोंके साथ आनन्दमें भरकर श्रीसीता ठकुरानी बोली—मिश्राणीजी ! तुम सती साध्वी हो। तुम जिस प्रकार अनुपम सुन्दरी हो, उसी प्रकार तुम्हारा शिशु भी अद्वितीय सर्वाङ्ग सुन्दर है। यह कोई सामान्य शिशु नहीं है। यह तो तुम्हारे कुलका उद्धारके लिये अवतरित हुआ है। यह दिव्य महापुरुष होगा। इस शिशुके रूप, गुण सौन्दर्यके प्रति मेरे हृदयमें अन्यान्य अनेक प्रकारकी बातें आ रही हैं, किन्तु उनको प्रेमाधिक्य के कारण प्रकाशित नहीं कर पा रही हूँ। ऐसा सुनकर शचीमाता आनन्द-सागरमें डूब गईं और उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु-धारा बहने लगी। वे बारम्बार श्रीमती सीता ठकुरानीके तथा दूसरी-दूसरी पूजनीय ब्राह्मणियोंके चरणों की वंदना कर शिशुके लिये आशिष देने हेतु प्रार्थना करने लगीं।

श्रीसीता ठकुरानी अपने घरसे नवजात शिशुके लिए पीत, कौषेय वस्त्र, स्वर्ण-हार एवं कंकण, लाल सूत्र, पीत वर्णका कुर्ता तथा चरण-कमलोंमें पहिनने के लिये नूपुर इत्यादि नाना प्रकारके जो वस्त्र एवं अलंकार अपने साथ लायीं थीं, उन सबको स्वयं ही बालकको पहनाया। तत्पश्चात् वाम हस्तसे धान्य दूर्वा लेकर 'चिरायु हो' ऐसा कहकर आशीर्वाद दिया। उस समय सारा भवन 'श्रीहरि' ध्वनिसे गूंज उठा।

अनन्तर परम विनीत श्रीमिश्र और शचीदेवीने पुत्र के आविर्भाव उत्सवमें जितना धन उपहारके रूपमें मिला था वह सब परम प्रीतिपूर्वक गायक, वादक, भाँट ब्राह्मणों, अतिथियों व दरिद्रोंको दान कर दिया। सब लोग आनन्दित होकर शिशुको प्रचुर आशिष देने लगे। उस उत्सवके दर्शनसे नर-नारी एवं सभी दर्शक धन्य हो गये। सबके मनोरथ पूर्ण हो गये।

प्रेमसे बोलो, कलि पावनावतारी श्रीशचीनन्दन श्रीश्रीगौरहरि की जय ! श्रीनवद्वीप धामकी जय ! धामवासी भक्तवृन्दकी जय !

—श्रीहरिकृपादास ब्रह्मचारी

तत्त्व-विवेक

'वस्' धातुमें संज्ञा-अर्थमें 'तु' प्रत्ययका योग होनेपर 'वस्तु' शब्द निष्पन्न होता है; अर्थात् जिसका अस्तित्व है, उसीको वस्तु कहा जाता है। 'वस्तु' वास्तव और अवास्तव भेद से दो प्रकारकी होती है। वास्तव वस्तु नित्य-स्थितिशील और चेतन होती है। चेतन वस्तु दो प्रकारकी है—पूर्ण चेतन वस्तु—ईश्वर और अणु चेतन वस्तु—जीव। ईश्वर एक है और जीव अनन्त हैं। अचेतन या जड़ वस्तुओं को अवास्तव वस्तु कहते हैं। अतएव वास्तव और अवास्तव वस्तुएँ तीन हैं—ईश्वर, चेतन (जीव) और जड़।

जिसमें ईशिता अर्थात् सर्वशक्तिमत्ता है, वही ईश्वर हैं। ईश्वरमें ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य पूर्णमात्रामें विद्यमान रहते हैं। वे पूर्ण चेतन वस्तु और मायाधीश हैं। जिस लोकमें वे निवास करते हैं, वह भी चिन्मय होता है। उनकी लीलाके उपकरण आदि भी चिन्मय होते हैं। जो सर्व प्रकारके मायिक हेय दोषोंसे रहित अनन्त अप्राकृत सद्गुणोंके आश्रय हैं और सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हैं, वे ही स्वराट् लीलापुरुषोत्तम हैं। न तो कोई उनके समान है और न कोई उनसे श्रेष्ठ ही है। वे ही निखिल जगतके एकमात्र आश्रय स्वरूप हैं। निखिल जीव-समूह स्वरूपतः उनके दास हैं। दासत्व-सम्पन्न सभी जीव उनकी तटस्था शक्तिसे परिणत-तत्त्व हैं; परन्तु भगवान स्वयं-प्रकाश-तत्त्व हैं। वे सभी जीवोंके सेव्य-तत्त्व हैं और जीव उनके सेवक हैं।

एकला ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य।
जारे पंछे नाचाय से, तैछे करे नृत्य॥
(चै. च. आ. ५।१४२)

जीव अपने स्वरूपगत धर्मको भूल जानेके कारण ही इस माया-निर्मित त्रितापयुक्त संसारमें कष्ट-भोग कर रहे हैं। यहाँ जो कुछ भी दीख पड़ रहा है, नश्वर है। किन्तु जीव प्रमादवश इन नश्वर पदार्थोंमें भोगासक्त होकर, अपनेको कर्त्ता, भोक्ता और नियन्ता मान बैठा है। यही उसके संसार बन्धनका एकमात्र कारण है। इन अवास्तव वस्तुओं में आसक्ति रखनेसे दुःखके अतिरिक्त और कुछ नहीं मिल सकता। जीवको विषय-भोगके उपरान्त जो क्षणिक सुखकी प्रतीति होती है—वह दुःखका ही एक रूप है; वास्तविक सुख नहीं। स्वरूपतः जड़ीय पदार्थोंमें किसी प्रकारका सुख अथवा आनन्द नहीं है; बल्कि जो सुख अथवा आनन्द-सा अनुभव होता है, वह केवल जीवकी आसक्ति मात्र है। यद्यपि जीवको इन जड़ीय भोगोंके भोग करने पर भी दुःख और क्लेश मिलते हैं, फिर भी वह विषयों से मिलने वाले दुःखोंमें भी ठीक उसी प्रकारसे सुख की कल्पना करता है, जिस प्रकार ऊँट काँटोंको खाते समय स्वयं अपने काँटोंसे चुभे हुए मुखसे रक्तका आस्वादन कर सुखकी कल्पना करता है।

विषयोंका भोग करते-करते जीव मायासे इतना आवृत्त हो चुका है कि परात्पर ब्रह्म श्रीकृष्णको सेवा प्राप्त करनेकी भावना उसके हृदयमें उदित नहीं होती। अनादि कालसे विषय भोगोंका सेवन करते रहनेसे जीवने मायिक त्रिगुणात्मक धर्मोंको ही

अपना धर्म अथवा कर्त्तव्य समझ लिया है। जो वस्तुएँ माया कवलित जीवकी विचार-सीमामें आती हैं, वह उनको अपनाना अथवा उनकी सेवा करना ही एकमात्र कर्त्तव्य समझता है। मायाबद्ध जीव, भ्रम, प्रमाद, करणापाटव और विप्रलिप्सा दोषोंसे युक्त हो वास्तवको अवास्तव और अवास्तवको वास्तव समझ बैठे हैं।

इस प्रकारकी धारणामें जीवकी आसक्ति और दृष्टि दोष ही प्रमुख है। जब संसारमें दीख पड़नेवाली वस्तुएँ भी इन जड़ेन्द्रियोंसे ठीक-ठीक रूपमें निर्णीत नहीं हो पातीं, तब चेतन राज्यमें अवस्थित वस्तुएँ क्षुद्र बुद्धियुक्त जीव की धारणामें सही-सही किस प्रकार आ सकती हैं ?

वैकुण्ठ जगत जड़ातीत और चिन्मय है। वहाँ जड़ेन्द्रियोंकी पहुँच नहीं है। इसलिए वहाँ की अनुभूतिकी प्राप्तिके लिए, जो महत्जन बद्ध जीवोंके कल्याणार्थ इस धराधाम पर अवतीर्ण हुए हैं, उनके शरणागत होना आवश्यक है। जिन व्यक्तियोंने गुरु-वैष्णव कृपासे अथवा परम्परागत गुरु-शृङ्खलामें दीक्षित होकर, उन परब्रह्म श्रीकृष्णके स्वरूपकी अनुभूति अथवा दर्शन कर लिए हैं, उनके चरणाश्रित होकर उनके आनुगत्यमें हरि-गुरु और वैष्णवोंकी सेवा करते-करते जीव वास्तव और अवास्तव वस्तुको तत्त्वतः समझकर वास्तव वस्तुके प्रति आसक्त एवं अवास्तव वस्तुके प्रति अनासक्त रहकर, स्व-स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो सकता है।

भगवान् सच्चिदानन्द और सर्वशक्तिमान हैं। इसलिए वे हम सभीकी हृदयगत भावनाओंको जानते हैं। उनके अज्ञातमें हम कुछ भी कर सकनेमें समर्थ नहीं हैं। वे स्वेच्छासे जीवके समक्ष प्रकट होनेमें समर्थ हैं। वे किसी के पराधीन हुए बिना ही ऐसा करते हैं।

जीव अणु चैतन्य है। विभु चैतन्य भगवान श्रीकृष्ण की सेवा करना ही उसका स्वरूप धर्म है। उनके पादपद्मोंकी सेवा परित्याग कर देनेसे ही जीवकी दुर्गति होती है। उनकी सेवामें पुनः प्रतिष्ठित होने पर ही जीवका मङ्गल सम्भव है। जब तक जीव पूर्णरूपसे भगवानके चरण-कमलोंमें अपनेको नियुक्त न करे, तब तक उसका भव-बंधन क्षय होना असंभव है। श्रीकृष्ण-सेवा प्राप्त करने के लिये जीवको यह आवश्यक है कि वह जड़ात्मक बुद्धि का परित्याग करे, विषयोंसे विरक्त रहे, कुसंगका वर्जन करे तथा सद्गुरुके चरणाश्रित हो, उनके निर्देशानुरूप आचरण एवं भजन साधन करे, ऐसा करने पर ही वह कृष्णका विमल प्रेम और सेवा प्राप्त करनेका अधिकारी बन सकता है। श्रीमद्रूप गोस्वामीपादजी उपदेशामृतमें लिखते हैं कि—

उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात् तत्तत्कर्मप्रवर्त्तनात्।
संगत्यागात् सतोवृत्तेः षड्भिर्भक्तिः प्रसिद्ध्यति ॥
(उपदेशामृत–३)

जन्म-जन्मकी दुष्कृतियोंके कारण जो विषयासक्ति जीवके हृदयमें जड़ जमा चुकी है, वह यों ही नष्ट हो जाने की नहीं। उसके लिये गुरु वैष्णवजनोंकी अहैतुकी कृपा अपेक्षित है। यदि भगवत् सेवा प्राप्त करनी है, तो सद्गुरु पदाश्रय ग्रहण करना अतीव प्रयोजनीय है। बिना सद्गुरु पदाश्रय किये हृदयकी विषय-ग्रन्थि खुलने वाली नहीं। इस प्रकार सद्गुरुके आश्रयमें रहकर भजन करते-करते जीवकी विषय वासना नष्ट होने पर, हृदय परिमार्जित होगा और तब उसके हृदयमें श्रीकृष्णकी विमल भक्ति विराजमान हो सकेगी।

—श्रीसत्यपाल ब्रह्मचारी, बी. ए.

श्रीश्रीगुरुगौरांगौ जयतः

प्रसूनांजलि

परमाराध्यतम पतितपावन सर्व-अमगंलहारी दयासागर दीनानाथ ॐ विष्णुपाद १००८ श्रीश्रीलभक्ति प्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी परम पुनीत अविर्भाव तिथि-पूजाके उपलक्ष्यमें दीन-हीन पतिताधमकी तुच्छातितुच्छ भाव-प्रसूनांजलि ।

अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया ।
चक्षुरुन्मिलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥
नम ॐ विष्णुपादाय आचार्यसिंह रूपिणे ।
श्रीश्रीमद्भक्ति प्रज्ञान केशव इति नामिने ॥
वांछा कल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च ।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः ॥

श्रीश्रीफाल्गुन कृष्ण-तृतीयाकी जय हो, जय हो। इसी पुनीत तिथिको धन्य करके पतितोंको भ्रष्ट-पथसे उद्धार कर, उन्हें भक्ति पथ पर आरूढ़ करानेके उद्देश्यसे नित्य-गौरपार्षद जगद्गुरु मदीय श्रीगुरु-देव पूर्व-बङ्गकी पवित्र वसुधा पर अवतीर्ण हुए। बालकपनसे ही भवदीय जीवन चरित्रमें प्रखर बुद्धि, अत्याश्चर्यमयी उद्भावनी शक्ति एवं भगवद्भक्तिका आभास प्रकटित होने लगा । गरीब दुखियों एवं असहाय व्यक्तियोंको देखकर आपका हृदय द्रवित हो उठता था तथा जबतक उसकी उचित सहायता नहीं कर देते, तब तक चैन नहीं लेते ।

धीरे-धीरे उनकी यह प्रवृति अनादि कालसे संसार दावानलसे दग्ध होते आ रहे जीवकी आत्य-न्तिक दुःख-निवृत्ति एवं सुख-प्राप्तिके उपाय ढूढ़नेकी ओर मुड़ी । अतः अल्पावस्थामें ही कालेजकी शिक्षाका त्यागकर घर-बार और विधवा माताको छोड़कर जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुरके चरणाश्रित होकर श्रीश्रीगुरुसेवाका परम देदीप्यमान आदर्श स्थापित किया। तदीय गुरुपादपद्मकी अप्रकट लीला-अविष्कारके पश्चात श्रीश्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदनन्तर भारतके विभिन्न स्थानोंमें मठ तथा प्रचार-केन्द्रोंकी स्थापना करके मायावादियों, सहजियों और नाना प्रकारके भक्ति-विरोधी कुसम्प्रदायोंको अपनी हुङ्कार और सुसिद्धान्तपूर्ण गर्जनसे दबाकर श्रील सिद्धान्त सरस्वतीके आनुगत्यमें स्वयं-भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा आचरित और प्रचारित प्रेम-धर्मका प्रचार कर रहे हैं । मुद्रण-यंत्र (बृहद मृदंग की) स्थापना कर हिन्दी और बङ्गला भाषामें श्रीभागवत पत्रिका एवं श्रीगौड़ीय पत्रिका—नामक दो पारमार्थिक मासिक पत्र प्रकाश कर, देशमें सर्वत्र ही उज्ज्वल-चरित्र सुसिद्धान्त-विज्ञ त्रिदण्डि-पादों एवं ब्रह्मचारियोंको प्रचारके लिये भेजकर स्वयं समग्र भारतमें भ्रमणकर अनेक स्थानों पर भगवत् विग्रहोंकी तथा पादपीठोंकी स्थापना करके, गोस्वा-मियोंके ग्रन्थोंका प्रकाशन करवाकर, श्रीगौड़मण्डल, व्रजमण्डल एवं क्षेत्रमण्डल तथा केदार-बद्री-नारायण, द्वारकाधाम, सेतुबन्ध रामेश्वर आदि चार धामों, सप्त पुरियों तथा समस्त तीर्थोंकी परिक्रमा की व्यवस्था करके, श्रीगौड़ीय वेदान्त पाठशाला (चतुष्पाठी) की स्थापना कर, कहाँ तक गिनाऊँ,

सर्वरूपेण प्रबल प्रतापसे श्रीगौर-विनोद-वाणीका—शुद्ध भक्तिका प्रचार करने वाले हैं। सिद्धान्ताचार्य-सम्राट केशरी ! मैं दीन-हीन भवदीय श्रीश्रीचरण युगलोंमें आज अपनी तुच्छ श्रद्धा-पुष्पांजलि अर्पण करता हूँ ।

हे गौरशक्तिके मूर्तिमान विग्रह! जीव कोटि-कोटि युग-युगान्तरोंसे संसारके जन्म-मरणके चक्रव्यूहमें मायाग्रसित है । भाँति-भाँतिके कष्ट उसे घेरे रहते हैं। यह चीखता-चिल्लाता है, किन्तु अपने दुःखों की निवृत्तिका उपाय नहीं देखता । ऐसे माया प्रपीड़ितजनोंके कल्याण और उद्धारके उद्देश्यसे इस प्रपंचमें आप अवतीर्ण हुए। आप दुःखी जीवोंको सांसारिक नश्वरताका उपदेश प्रदानकर भगवद्भक्ति की ओर प्रेरित करते हैं । संसारके कोने-कोनेमें परिभ्रमण कर माया कवलित जीवोंके कर्ण-रध्रोंमें हरिनामामृत ढालते हैं, उन्हें पतितावस्थासे उठा भगवत् तत्वका उपदेश करते हैं। आपको मेरा पुनः-पुनः नमस्कार है।

हे करुणासागर ! मायाके आपात् मधुर, परन्तु चिर-दुःखद विषय-भोगोंमें मत्त होकर जीव अपनी नित्य स्थितिका बोध खो, यहाँके क्षणिक सम्बन्धियों को अपना आत्मीय स्वजन तथा हितैषी समझ बैठता है । यहाँके शब्द, रूप रस, गंध और स्पर्श पंच विषयोंके आस्वादनको ही वह परम सुस्वादु समझ बैठता है। काम-वासनासे मोहित हो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश आदि पंचभूत के संमिश्रणसे रचित स्थूल-सूक्ष्म शरीरोंमें आसक्त हो जाता है । स्वरूपभ्रम, असत्-तृष्णा, हृदय दौर्बल्य तथा अपराध इत्यादि अनर्थोंसे दूषित हो जानेके कारण वह भगवत्-तत्वसे बिलकुल विमुख हो जाता है। ऐसी स्थितिमें यदि कोई उसे उसके हित (आत्म-ज्ञान देकर संसार निवृत्तिके उपदेश) की बात भी कहे तो वह उसमें अविश्वास कर प्रत्यक्ष रूपसे दीख पड़ने वाले सांसारिक भोगोंकी सुख-इच्छा-पूर्तिकी असत् भावनाका त्याग नहीं करता, प्रत्युत् वैसा कहनेवालेको ही वह अज्ञानी कहता है। यद्यपि वह संसारके अन्य सभी व्यक्तियोंको विभिन्न प्रकारसे कष्ट भोग करते देखता है, फिर भी संसारके उन कष्टसाध्य विषयोंसे विरक्त हो, भगवद्भक्तिकी ओर आकृष्ट नहीं होता—कैसी विडम्बना है, संसार-बद्ध जीवोंकी । ऐसे असहाय जीवोंको भगवत् चरणोंकी ओर उन्मुख करानेके हेतु ही आपका शुभ आविर्भाव है। आपको शत-शत नमस्कार है।

हे चैतन्य मनोभिष्टपूरक ! हे गौरकरुणा शक्ति ! हे भक्तिसिद्धान्त सरस्वतीके अभिन्न कलेवर ! मुझ मन्दभाग्य, भवदीय पाद-पद्म-विमुख, असहाय जीवकी चोटी पकड़कर अपने कोटि-चन्द्र-सुशीतल चरणोंमें सदाके लिये खैंच लें। हे देव ! मेरे दुर्बल अन्तःकरणमें दृढ़ता और बलका संचार करें, जिससे मैं आपकी चरण-धूलिकी नित्य सेवामें पूर्णतः आत्मोत्सर्ग कर सकूँ । हे अदोषदर्शी ! मेरी यह तुच्छ प्रार्थना-पुष्पांजलि अर्पित है। आप प्रसन्न हो। आप प्रसन्न हों।

—श्रीगुरुकृपाश्रेश प्रार्थी सत्यापाल ब्रह्मचारी

श्रीचैतन्य-शिक्षामृत

चतुर्थ धारा

[जीव—बद्ध और मुक्त जीव]

श्रीचैतन्य महाप्रभुने सनातन शिक्षामें जीवके सम्बन्धमें बड़े ही सुन्दर और स्पष्ट उपदेश दिये हैं। उन उपदेशोंको जान लेनेसे जीवतत्त्वको सहज ही समझा जा सकता है। वे उपदेश ये हैं—

'अद्वयज्ञानतत्त्व कृष्ण स्वयं भगवान्।
स्वरूपशक्तिते तार हय अवस्थान॥
स्वांश विभिन्नांशरूपे हइया विस्तार।
अनन्त वैकुंठ ब्रह्माण्डे करेन विहार॥
स्वांशविस्तार चतुर्व्यूह अवतारगण।
विभिन्नांशे जीव तांर शक्तिते गणन॥
सेई विभिन्नांश जीव दूईत प्रकार।
एक नित्यमुक्त, एक नित्य संसार॥
नित्यमुक्त नित्य कृष्ण चरणे उन्मुख।
कृष्ण पारिषद नाम भुञ्जे सेवासुख॥
नित्यबद्ध कृष्ण हैते नित्य बहिर्मुख।
नित्य संसार भुञ्जे नरकादि दुःख॥
सेइ दोषे माया-पिशाची दण्ड करे तारे।
आध्यात्मिक तापत्रय तारे जारि मारे॥
काम क्रोधेर दास हञा तारि लाथि खाय।
भ्रमिते भ्रमिते यदि साधु वैद्य पाय॥
तार उपदेश मंत्रे पिशाची पलाय।
कृष्ण भक्ति पाय तबे कृष्ण निकट जाय॥
(चैतन्यचरितामृत म० २२।७-१५)

पुनः जीवके स्वरूपके सम्बन्धमें दूसरी जगह सनातन शिक्षामें कहते हैं—

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्य दास।
कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाभेद प्रकाश॥
सूर्यांशुकिरण येन अग्नि ज्वालाचय।
(चै. च. म० २०।१०८-९)

श्रीरूप-शिक्षामें भी कहते हैं—

"एईरूपे ब्रह्माण्ड भरि अनन्त जीवगण।
चौरासीलक्ष योनीते करये भ्रमण॥
केशाग्र शतेक भाग पुनः शतांश करि।
तार सम सूक्ष्म जीवेर स्वरूप विचारि॥*

सार्वभौम-शिक्षामें ईश्वर और जीवके विषयमें कहते हैं—

मायाधीश मायावश ईश्वरे जीवे भेद।
हेन जीव ईश्वर सह कहत अभेद॥

---

* केशाग्रशतभागस्य शतांशसदृशात्मकः।
जीवः सूक्ष्मस्वरूपोऽयं संख्यातीतोहि चित्कणः॥ (चै. च. धृत श्लोक म. १९।१४४)

गीताशास्त्रे जीवरूप शक्ति करि माने।
हेन जीवे अभेद कर ईश्वरेर सने॥
(चै. च. म. ६।१६२-६३)

स्वांश-तत्त्व

उपरोक्त महावाक्योंका सारतात्पर्य यह है कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अचिन्त्य शक्तिविशिष्ट और पूर्ण इच्छामय हैं। वे अपनी चित्-शक्तिके द्वारा स्वांश और विभिन्नांशके भेदसे दो प्रकारसे विलास करते हैं। स्वांश द्वारा चतुर्व्यूह और असंख्य अवतारोंका विस्तार करते हैं। तथा विभिन्नांश द्वारा जीव-समष्टिका विस्तार करते हैं ;* स्वांश-विस्तार पूर्णचिच्छक्तिकी क्रिया है। स्वांश तत्त्व अर्थात् अवतार-समूह सभी विष्णुतत्त्व और सर्वशक्तिमान हैं। सभी अंशावतारगण पूर्णसे पूर्ण शक्ति प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार एक महादीपसे अनन्त दीप प्रज्ज्वलित होने पर भी महादीपका कुछ क्षय नहीं होता;+ और उस महादीपसे प्रज्ज्वलित प्रत्येक दीप ही पृथक्-पृथक् रूपमें मूल महादीपके तुल्य होते हैं, उसी प्रकार स्वांशविस्तारको समझना चाहिए। स्वांशप्रकाशित पुरुषगण महेश्वर कहे जाते हैं। वे कर्मफल भोग नहीं करते। ये सभी कृष्ण-तुल्य इच्छामय होने पर भी कृष्ण-इच्छाके अधीनमात्र होते हैं।

विभिन्नांश जीव-तत्त्व

चिच्छक्तिके अतिसूक्ष्म खण्डांशसमूह विभिन्नांशरूपमें जीव होते हैं।÷ इसको तटस्था शक्ति कहते हैं। चिच्छक्ति और मायाशक्तिके मध्यस्थित तत्त्व ही—तटस्था शक्ति है। इसमें मायाशक्तिकी कोई क्रिया या उसका अंश नहीं है। फिर भी अत्यन्त क्षुद्र होनेके कारण मायावश योग्य होता है। कृष्णकी निरंकुश इच्छा ही इसका मूल है। विभिन्नांश जीव-समूह कर्मफल भोग करने योग्य होते हैं।× वे जबतक अपनी स्वतन्त्र इच्छासे कृष्ण-सेवामें लगे रहते हैं, तबतक वे माया या कर्मके अधीन नहीं होते; परन्तु जिस समय वे अपनी स्वतंत्र इच्छाका दुरुपयोग कर स्वयं भोक्ता बननेकी इच्छा करते हैं—कृष्ण-सेवा-धर्मको विस्मृत हो जाते हैं, तभी वे माया मोहित होकर कर्म-परतन्त्र बन जाते हैं। परन्तु संसारमें भ्रमण करते-करते सौभाग्यवश यदि साधुसंग मिल जाता है, तब उनकी कृपासे उनको यह स्मरण हो आता है कि

---

* क्षीरं यथा दधिविकार विशेषयोगात् संजायते न तु ततः पृथगस्ति हेतोः।
यः शंभुतामपि तथा समुपैति कार्याद्गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥ —ब्रह्म-संहिता ५।४५

+ दीपार्चिरेवहि दशान्तरमभ्युपेत्य दीपायते विवृतहेतु समानधर्मा।
यस्तादृगेवहि च विष्णुतया विभाति गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥ —ब्रह्म-संहिता ५।४६

÷ (क) बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः सविज्ञेयस्तदनन्ताय कल्प्यते॥ —श्वे० उ०
(ख) सूक्ष्मानामप्यहं जीवो दुर्जयानामहं मनः। —भा० ११।१६।११

× आत्मानमन्यञ्च सवेद विद्वानपि पिप्पलादो ननु पिप्पलादः।
योऽविद्ययायुक् स नित्यबद्धो विद्यामयो वः स तु नित्यमुक्तः (भा० १।।११।७)

कृष्ण-सेवा ही उनका स्वरूप धर्म है। ऐसा स्मरण हो आने पर तत्क्षण मुक्ति उनके निकट उपस्थित होकर कर्म-बन्धन और माया-यन्त्रणासे उनका उद्धार करती है (क)। जड़ जगतमें आनेसे पूर्व ही उनका बन्धन होनेके कारण उनके बन्धनको 'अनादि' कहा गया है। इसीलिए उनको 'नित्यबद्ध' कहा जाता है। जो जीव ऐसे बद्ध नहीं हुए, वे—'नित्यमुक्त' कहलाते हैं। और जो बद्ध हो गये हैं, वे 'नित्य-बद्ध' हैं।

इन्हीं कारणोंसे ईश्वरस्वरूप और जीव-स्वरूपमें विशेष अन्तर देखाजाता है। ईश्वर मायाधीश हैं और जीव मायावश्योग्य होता है तथा इसीकारण माया-बद्ध भी होता है (ख)। कृष्णरूप विभुचित् स्वरूप का अंश होनेके कारण जीवको विचारके स्थलपर चित्कण और कृष्णसे भिन्न-तत्त्व कहा जा सकता है। परन्तु कृष्णकी शक्ति होनेके कारण जीवको कृष्णसे अभिन्न भी माना जाता है। इसीलिये श्री-चैतन्यमहाप्रभुजीने जीवको भेदाभेद प्रकाश मानकर अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्वकी शिक्षा दी है। उन्होंने जीवोंकी तुलना सूर्यांशुकिरणकणों और अग्निकी चिनगारियोंसे देकर उन्हें कृष्णसे नित्य भिन्न-विभि-न्नांश माना है। "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि वेदके प्रादेशिक वाक्यों द्वारा जीवका परब्रह्मत्व कदापि सिद्ध नहीं होता। कृष्ण अर्थात् विष्णुतत्त्व ही एक-मात्र परब्रह्म हैं। जीवको भी चित् तत्त्व होनेके कारण वस्तुतः ब्रह्म कहा जा सकता है। परब्रह्म स्वरूप कृष्णकी स्वरूपकान्तिको ब्रह्मतत्त्व कहते हैं जो जगतमें परमात्माके रूपमें अपना एक अंश विस्तार करते हैं और जगतके बाहर व्यतिरेक अवस्थामें निर्विशेष आविर्भावरूप अचिन्त्य, अदृश्य अप्राप्य ब्रह्मरूपमें अपनी प्रतिभा विस्तार करते हैं। कृष्णके अचिन्त्य विभिन्नांश—देवता, मनुष्य, यक्ष, राक्षस, पशु, कीट, पतङ्ग, भूत और प्रेत आदि नानारूपोंमें विस्तृत हैं। समस्त प्रकारकी योनियोंमें मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ योनि है; क्योंकि जीव इस दुर्लभ जन्ममें कृष्ण-भक्ति करनेके योग्य होते हैं। मनुष्य जन्म प्राप्त करने पर भी जीव अपने कर्मदोष के कारण स्वर्ग और नरक आदिका भोग करता है। माया-वशीभूत जीव कृष्णको भूलकर नाना प्रकारकी कामनाओंकी पूर्त्तिकी आशामें अनादिकालसे जगत में इतस्ततः भटक रहा है।

अणु - चैतन्य जीव स्वभावतः पूर्णचैतन्यरूप कृष्णका दास है। कृष्ण-दास्य ही जीवका स्वरूप है। अपने उस नित्य स्वरूपको भूलकर जीव माया द्वारा बँधा हुआ है। परन्तु अपना नित्यस्वरूप स्मरण -पथमें उदित होनेपर जीव मायासे मुक्त होकर अपने नित्यस्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है। चैतन्यवस्तुका जो स्वाभाविक शक्तिधर्म है, वह अणुचैतन्य जीवमें अणुमात्रमें विद्यमान होता है। इसलिये जीव प्रायः स्वभावतः निःशक्तिक होता है—मुक्तावस्थामें

(क) भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्मायया तो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥ (भा० ११।२।३५)

(ख) त्वं नित्यमुक्तपरिशुद्धविशुद्ध आत्मा कूटस्थ आदि पुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः।
यद्बुद्ध्यवस्थितिमखण्डितया स्वदृष्टया द्रष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त आससे॥ (भा० ४।९।१५)

कृष्णशक्ति प्राप्तकर उसी मात्रामें शक्तियुक्त होता है। "मैं चैतन्यवस्तु हूँ"—ऐसा अध्यास करके जीव शक्ति नहीं प्राप्त होता; वरन् वैसे अध्याससे जो मुक्ति होती है, उसे निर्वाण मुक्ति कह सकते हैं। परन्तु "मैं कृष्ण दास हूँ"—इस अध्याससे जीव कृष्णशक्ति लाभकर उसके द्वारा नित्यानन्द तकको प्राप्त हो जाता है। इससे आनुसंगिकरूपमें माया-ध्यासरूप भय भी दूर हो जाता है।

बद्धजीव नाना प्रकारके आकारोंमें लक्षित होते हैं। ऐसा होनेका कारण जीवोंके अपने-अपने कर्म-फल (क) ही हैं। जीवका गठन शुद्ध चित् तत्त्वसे हुआ है। उसके गठनमें किसी मायिक गुण या मायिक धर्मका मिश्रण नहीं है। यदि हम ऐसा मान लें कि जीवका गठन मायिक धर्मसे हुआ है, तो इस विचारमें मायावाद स्थान ग्रहण कर लेता है अर्थात् इससे मायावाद स्वीकारका दोष उपस्थित हो पड़ता है। जीव वास्तवमें शुद्ध चिद्वस्तु है तथा चिद्धर्मसे गठित है। तटस्थ-धर्म वशतः जीव मायिक धर्ममें आबद्ध होने योग्य होता है; वह भी केवल उस अवस्थामें ही जब वह कृष्णदास्य रूप अपना स्वधर्म भूल जाता है। शुद्ध जीवकी सत्ता, उसका आकार तथा विकार—सब कुछ चिन्मय होता है। किन्तु जीव अणुचैतन्य होनेके कारण उसकी सत्ता और उसके आकार आदि भी अणु होते हैं। इसलिये जब जीव मायाबद्ध होता है, तब सबसे पहले माया-निर्मित मनोमय लिंगदेह जीवके शुद्ध आकारको आच्छादित करती है और कर्म-क्षेत्रमें उपस्थित होने पर स्थूलदेह उस लिंग देहको भी ढक कर उसे जड़ कर्मोंके लिये उपयोगी बना देती है (ख)। पर स्मरण रहे कि शुद्ध स्वरूपको ऊपरके ढकनेवाले स्थूल और लिंग शरीर ही मायिक विकार हैं; आत्मस्वरूप नहीं। परन्तु दोनोंमें सौसादृश्य है। भूमि, जल, आग, वायु और आकाश—इन पाँच मायिक स्थूलसे बद्धजीवका स्थूल शरीर गठित होता होता है। मन, बुद्धि और अहङ्कार—इन तीन लिंग तत्त्वोंसे लिंग शरीर होता है (ग)। इन दोनों आच्छादनोंके दूर होने पर जीव मायासे मुक्त हो जाता है। जीवका आत्ममय चित् शरीर प्रकाशित होता है। मुक्त पुरुष अपने आत्मशरीरकी इन्द्रियोंसे कार्य करते हैं। स्थूल जगतका आहार, विहार,

(क) मनः कर्ममयं नृणामिन्द्रियैः पंचभिर्युतम्।
लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते॥ (भा० ११।२२।३६)

(ख) मल्लक्षणमिमं कायं लब्ध्वा मद्धर्म आस्थितः।
आनन्दं परमात्मानमात्मस्थं समुपैति माम्॥ (भा० ११।२६।१)

(ग) भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ (गीता ७।४-५)

स्त्रीसंग; मलमूत्र - त्याग, शारीरिक आघात, पीड़ा और वियोगका क्लेश—यह सब कुछ भी चित्-शरीरमें नहीं होता । जीवके देहात्माभिमान रूप विवर्त्तधर्ममें ही वे सब स्थूल शरीरमें जो कार्य करते हैं, उसे जीव भ्रमसे स्वीकार कर सुख - दुःखका अनुभव करते हैं । (क) मुक्त पुरुषोंके सम्बन्धमें और भी एक गूढ़ रहस्य है, वह यह कि मुक्त होने पर भी जब तक जड़ज्ञानाभिमान रहता है या जड़ व्यतिरेक निर्वाण-बुद्धि रहती है, तब तक भक्तिके उपयोगी भागवती तनु (शरीर) नहीं प्राप्त होता । भक्त-साधुसंगके फलस्वरूप जो आवान्तर मुक्तिदशा उपस्थित होती है, वही भागवती शुद्ध तनुका उदय करा सकती है (ख) । ज्ञानी-जनोंके संगसे जो मुक्ति होती है, वह यथार्थ मुक्ति नहीं, बल्कि मुक्तिका अभिमान मात्र होता है, वह भी जीवोंके लिये एक दुर्गतिमात्र है (ग) । यहाँ संक्षेपमें जीवका शुद्ध-स्वरूप, बद्ध-स्वरूप और मुक्त-स्वरूप—इन विषयोंकी आलोचन की गयी है जीवके कर्त्तव्याकर्त्तव्यका विचार अन्यत्र किया जायगा ।

(क) प्रकृतेरेवमात्मानमविविच्याबुधः पुमान् । तत्त्वेन स्पर्शं संमूढः संसारं प्रतिपद्यते ॥
नृत्यतो गायतः पश्यन् यथैवानुकरोति तान् । एवं बुद्धिगुणान्पश्यन्ननीहोप्यनुकार्यते ॥
यथांभसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव । चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यतेभ्राम्यतीव भूः ॥
यथामनोरथधियो विषयानुभवो मृषा । स्वप्नदृष्टाश्च दाशार्ह तथा संसार आत्मनः ॥
अर्थेह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्त्तते । ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेनर्थागमो यथा ॥

(भा० ११।२२।५०-५५)

हन्तास्मिन् जन्मनि भवान् मा मां द्रष्टुमिहार्हति ।
अविपक्ककषायानां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ॥ (भा० १।६।२२)

(ख) एवं कृष्णमतेर्ब्रह्मन्नासक्तस्यामलात्मनः । कालः प्रादुरभूत् काले तड़ित्सौदामिनी यथा ॥
प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम् । आरब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत् पांचभौतिकः ॥

(भा० १।६।८-९)

(ग) येऽन्येऽरविदाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥ (भा० १०।२।३२)

प्रचार-प्रसंग

दुमका जिलेमें प्रचार

प्रचारका उद्देश्य

प्राणिमात्रका एकमात्र धर्म है—भगवानकी सेवा। श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर ही स्वयं-भगवान हैं। जीव उनके सेवक हैं। जीव अपने इस स्वाभाविक एवं नित्य धर्मको भूल कर मायिक संसारमें भटकता हुआ त्रितापोंसे दग्ध हो रहा है तथा मायिक धर्मको अपना धर्म समझ रहा है। जन्म-जन्मान्तरोंसे नित्य सुख और शाश्वत शान्तिकी खोजमें इधर-उधर चौराशीलाख योनियों में भटकता है; परन्तु उसे सहज ही प्राप्त नहीं होता। जीवोंकी ऐसी दुर्दशा देख कर भगवान स्वयं जगतमें अवतीर्ण होकर अथवा अपने पार्षद भक्तोंको आविर्भूत करा कर जीवोंको नित्यधर्म या भागवतधर्म की शिक्षा देकर धर्मकी प्रतिष्ठा करते हैं। जिन उपायोंसे जीव भगवान के प्रति उन्मुख हो सकता है, उनका जगतमें प्रचार करते-कराते हैं। स्वयं भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभुजी इसी महत् उद्देश्यसे जगत्में अवतीर्ण हुए थे। उनका इस विषयमें जगत्के लिये जो दान है, वह अभूतपूर्व और असमोर्द्ध है। उन्होंने स्वयं उस सर्व-श्रेष्ठ धर्म—विशुद्ध भगवद्भक्ति या प्रेम धर्मका आचरण कर दूसरोंको भी आचरण करनेके लिये उपदेश दिया है। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने पार्षद भक्तोंको भी ऐसा ही निर्देश दिया था कि वे स्वयं आचरण पूर्वक प्रचार करें। उन्होंने श्रीहरिदास ठाकुरको आचार और प्रचार दोनों कार्योंमें तत्पर देख कर उनकी प्रशंसा करते हुए कहा था—

आपने आचरे केह ना करे प्रचार।
प्रचार करेन केह, ना करेन आचार॥
आचार-प्रचार-नामेर करह दुइ कार्य।
तुमि सर्वगुरु तुमि जगतेर आर्य॥
(चैतन्य चरितामृत)

अर्थात् कोई-कोई स्वयं आचरण तो करते हैं; परन्तु प्रचार नहीं करते। और कुछ लोग केवल प्रचार करते हैं, आचरण नहीं करते। परन्तु हरिदास जी आप स्वयं भगवन्नाम करते हैं; साथ ही भगवन्नामका प्रचार भी करते हैं। इसलिये आप ही जगद् गुरु हैं और सबसे श्रेष्ठ हैं।

इस चैतन्य-वाणीके मूर्त्तिमान - विग्रह, परम कारुणिक, जीवहितैषणैकव्रत, परमहंस स्वामी श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजजीने—जगत् वंचनामूलक, नित्यधाराविच्छिन्न, कालान्तर्गत, असनातन धर्मोंकी हेयता दिखला कर सनातन वैष्णवधर्म ही एकमात्र चेतनधर्म है और केवल गौरविनोद-वाणीके माध्यमसे ही उसकी प्राप्ति संभव है—इसकी सर्वत्र घोषणा करनेके लिये गत ८ अप्रैल बुधवारके दिन सोलह मठवासी संन्यासी-ब्रह्मचारियों को साथ लेकर श्रीदेवानन्द गौड़ीय मठ, श्रीधाम नवद्वीपसे दुमका जिलान्तर्गत सारसाजोल ग्रामके निवासी श्रीपाद मधुसूदन विद्यानिधि, बी. ए. महोदयके घर पधारनेके लिए शुभ-यात्रा की। उनके साथ जो सोलह मठवासी थे, उनके नाम हैं—

(१) त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त त्रिविक्रम महाराज, (२) त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराज, (३) श्रीपादरोहिणीनन्दन व्रजवासी, (४) श्रीपाद भगवानदास ब्रह्मचारी, (५) श्रीपाद चिद्घनानन्द ब्रह्मचारी, (६) श्रीपाद गजेन्द्रमोचन ब्रह्मचारी, (७) श्रीपाद माधवदास ब्रह्मचारी, (८) श्रीपाद कानाइलाल ब्रह्मचारी, (९) श्रीपाद शेषशायी ब्रह्मचारी, (१०) श्रीपाद कृष्णकृपा ब्रह्मचारी, (११) श्रीपाद वृषभानु ब्रह्मचारी, (१२) श्रीपाद वृन्दावनबिहारीदास ब्रह्मचारी, (१३) श्रीपाद

नित्यकृष्ण ब्रह्मचारी, (१४) श्रीपाद गोपीनाथ ब्रह्मचारी और (१५) श्रीपाद सनत्कुमार ब्रह्मचारी।

उपरोक्त सोलह मठ वासियोंके अतिरिक्त प्रचार संघमें सात गृहस्थ वैष्णव भी सम्मिलित हुए थे। उनके नाम हैं—(१७) श्रीपाद नित्यानन्द दासाधिकारी, (१८) श्रीपाद मधुसूदन विद्यानिधि, बी. ए., (१९) श्रीपाद नवीनमदन दासाधिकारी,(२०) श्रीपाद वनमाली दासाधिकारी, (२१) श्रीपाद उरुक्रम दासाधिकारी, (२२) श्रीयुक्त गोपालचन्द्र मण्डल, (२३) श्रीयुक्त रत्नाकरदास।

ग्रामवासियोंका उत्साह और उनकेद्वारा स्वागत

नवद्वीपसे प्रचार-संघ कटवा-अहमदपुर,सांईथिया होकर दूसरे दिन ६ अप्रैलको दोपहरके समय आसनवनीमें पहुँचा। श्रीवनमाली दासाधिकारी महोदय पहले से ही सांईथिया रेलवे स्टेशन पर श्री आचार्यदेवकी अभ्यर्थनाके लिये उपस्थित थे। सांइथियासे आसनवनी मोटर बससे जाना पड़ता है। श्रील आचार्यदेव प्रचार-संघके साथ आसनवनी में पधारते ही वहाँ विराट जनसमुदायके जय-जयकारकी ध्वनिसे दिशाएँ गूँज उठी। लोग पुष्प, माला, चन्दन, पताका, मृदंग, करताल और शंख लेकर श्रील आचार्यके शुभागमनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। बससे उतर कर श्रीआचार्यदेव एवं प्रचार-संघ को श्रीपाद मधुसूदन विद्यानिधिके आसनवनी स्थित भवनमें पधराया गया, जहाँ पहले से ही उनके ठहने की पूर्णरूपसे व्यवस्थ की गयी थी। श्रीविद्यानिधि प्रभुने श्रील आचार्य देवके मना करने पर भी उनके श्रीचरणकमलोंको पखार कर, उस चरणामृतको समस्त श्रद्धालु जनतामें वितरण कर अपने समस्त परिवारके साथ उसे पान किया। तत्पश्चात् संन्यासी और ब्रह्मचारियोंने स्नानादिसे निवृत्त होकर द्वादशी-तिथिका माध्याह्निक प्रसाद सेवन किया। यह ग्राम दुमका (संथाल-परगना) जिलेमें मसानजोड़ बाँधके समीप एक प्रसिद्ध व्यावसायिक नगर है तथा बाँध के जल विद्युतद्वारा आलोकित है।

स्थानीय संभ्रान्त व्यक्तियोंके निकट श्रीगुरुदेवकी हरिकथा

उसी दिन सामको अनेक स्थानीय शिक्षित एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति श्रीआचार्यके निकट हरिकथा श्रवण के लिये उपस्थित हुए। उनमें डाक्टर नलिनीरंजन मण्डल और श्रीयुत भोलानाथ दत्त महाशयके नाम विशेष उल्लेख योग्य हैं।

धर्मसभा और भाषण

प्रथम दिवस—रातमें धर्मसभा हुई। संकीर्तनके पश्चात् समितिके अन्यतम प्रचारक त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त त्रिविक्रम महाराजने श्रीमद्-भागवतके "सतां प्रसङ्गान्मम वीर्य संविदः" श्लोक की व्याख्या पूर्वक "सत् और असत् किसे कहते हैं" - इस सम्बन्धमें एक गम्भीर दार्शनिक विचारोंसे युक्त मनोज्ञ भाषण देकर श्रोताओंको मुग्ध कर दिया।

द्वितीय दिवस—श्रील आचार्य देवके सभापतित्व में उनकी ही आज्ञासे क्रमशः निम्नलिखित वक्ताओं ने भाषण दिये। श्रीआचार्यदेव प्रतिदिन सबके अन्तमें भाषण देते थे। सभी धर्मसभाओंमें माइक-की व्यवस्था थी।

श्रीवृन्दावन विहारीदास ब्रह्मचारी—सनातन धर्म।
त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त नारायण महाराज—मानव जीवनका कर्त्तव्य।
श्रीश्रीआचार्यदेव—"हिन्दू"-शब्दकी व्याख्या।

भाषणके अन्तमें त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति-वेदान्त त्रिविक्रम महाराजने छाया चित्रके माध्यमसे श्रीगौर लीलाके सम्बन्धमें उपदेश पूर्ण भाषण दिया।

तृतीय दिवस—सभापति-श्रील आचार्यदेव। वक्ता—श्रीपद गजेन्द्रमोचन ब्रह्मचारी-श्रीमन्महाप्रभु के गृहत्यागका गूढ़ रहस्य।

श्रीपाद चिद्घनानन्द ब्रह्मचारी—धर्मकी आव-श्यकता। त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराज—शुद्धभक्ति किसे कहते हैं। (हिन्दीमें)

त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त त्रिविक्रम महाराज—धर्मके विषयमें शंकाएँ और उनका समाधान।

श्रीआचार्यदेव—वर्तमान समाजकी उच्छृङ्खलता और उसके निरोधका उपाय।

धर्मसभामें ओजस्वी और सारगर्भित भाषणोंसे आसनवनी एवं आसपासके गाँवोंमें नयी चेतनाकी स्फूर्ति हो उठी। क्रमशः श्रोताओंका समूह अधिक से अधिकतर होने लगा। सभा स्थलके अतिरिक्त श्रीमधुसूदन विद्यानिधिके वास-भवनमें सत्संगके लिये सर्वदा श्रद्धालु श्रोताओंकी खासी भीड़सी लगी रहती। दिन भर हरिचर्चा चलती रहती। आसपास के गाँवोंमें अनेक प्रतिष्ठितलोगोंके सभामें योगदान करनेके लिये स्थानीय लोगोंने निमन्त्रण भेजा था। श्रीपाद मधुसूदन विद्यानिधि रातमें उन सबके लिये प्रसादादि (भोजन आदि) की व्यवस्था करते थे। उनकी ऐसी सेवा प्रचेष्टा गृही वैष्णवोंके लिये आदर्श-स्थानीय है।

सारसाजोलमें

दूसरे दिन १२ अप्रैलको प्रचार-संघ सरसाजोल ग्राममें उपस्थित हुआ। पहाड़ियोंकी गोदमें बसा हुआ प्राकृतिक सौन्दर्यसे मण्डित यह ग्राम बड़ा ही सुन्दर है। एक तरफ पास ही पहाड़ी नदी प्रवाहित होती है। चारों ओर बाग-बगीचे, सुन्दर-सरोवर, उर्वर खेत और समतल मैदान उसकी सुन्दरताको और भी आकर्षक बनाते हैं। इतने विघ्न पथ पार कर इतने सुन्दर ग्राम होनेकी कोई कल्पना तक नहीं कर सकता है। चारों-तरफके अन्यान्य गाँवोंमें अधिकांश ग्रामवासी गरीब और अशिक्षित होने पर भी यह ग्राम इसका अपवाद है। यहाँके अधिकांश बसिन्दे धनी-मानी और शिक्षित-संभ्रान्त हैं। आसनवनीसे यह स्थान ६ मील पड़ता है। पैदल या बैलगाड़ीसे जाया जा सकता है। परमाराध्यतम श्रील गुरुदेवके लिये पालकीकी व्यवस्था थी। दूसरे लोगोंके लिये बैलगाड़ीकी व्यवस्था रहने पर भी सभी संन्यासी-ब्रह्मचारी संकीर्तन करते हुए पैदल ही चल पड़े। वहाँ पहुँचने पर ग्रामवासियोंने शोभा-यात्राके साथ कीर्तन करते हुए श्रील आचार्यदेवकी बड़े प्रेमसे अभ्यर्थना की। जगह-जगह उनकी आरती उतारी गयी तथा सबको मालाओंसे विभूषित किया गया। सर्वत्र ही उल्लासका वातावरण हो रहा था। गाँवके भीतर बीच-बीचमें आचार्यदेव की पालकीके ऊपर फूलोंकी वर्षा की गयी। यहाँ भी श्रीपाद विद्यानिधिके घर पर हम लोगोंके ठहरने की व्यवस्था की गयी थी। यहाँ हम लोग सात दिन रहे। धनी-मानी होने पर भी प्रत्येक ग्रामवासी का वैष्णवोचित आचार-व्यवहार और वैष्णव-सेवाग्रह सबकी दृष्टिको आकर्षण करते हैं। सात दिनों तक सम्पूर्ण ग्राम हरि-कथासे मुखरित हो उठा था। श्रील गुरुपादपद्मका असमोर्द्ध व्यक्तित्व देख कर, उनकी हृदय-स्पर्शी मधुर एवं कल्याणमयी वाणी और अकाट्य युक्तियोंको सुनकर इतने प्रभावित हुए कि, वे लोग भी मदीय गुरुपादपद्मको ही अपना एकमात्र परमाराध्यदेव जानने लगे है। विद्यानिधि प्रभुके दूसरे-दूसरे भ्राताओंके साथ ग्रामके अधिकांश उन्नत परिवार श्रील आचार्यदेवके निकट श्रीनाम ग्रहणकर उनके श्रीचरणाश्रित हो गये।

ग्रामकी विशेषता

यह ग्राम अपने प्रकारका जगत्में द्वितीय है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुके समय कुलीन ग्राम एक आदर्श ग्राम था। उस ग्रामके कुत्ते तक भी श्रीमन्महाप्रभु एवं भक्तोंके अतिशय प्रिय थे। वहाँ के सभी ग्रामवासी वैष्णव थे। आज लगभग ४७५ वर्ष बाद इस सारसाजोल ग्राममें भारतके सबसे तेजस्वी एवं प्रतिभाशाली आचार्य श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामीके अन्तरङ्ग प्रियतम पार्षदके शुभागमनसे इस ग्रामके ऐसे परिवर्तनसे कुलीन ग्रामकी स्मृति स्वतः हृदयमें उदित हो पड़ती है। धन्य है सारसाजोल ! धन्य हैं सारसाजोलके भक्तवृन्द !! और धन्य हैं सारसाजोल ग्राममें गुरुपादपद्मको आकर्षण

करनेवाले श्रीपाद मधुसूदन विद्यानिधि और श्रीपाद नवीनमदन प्रभु !!! इन दोनोंके अतिरिक्त जिन महोदयोंकी सेवासे वैष्णवगण और श्रीआचार्यदेव मुग्ध हुए हैं, उनमें श्रीरतनचन्द्र मण्डल, श्रीदेवेन्द्र-नाथ मण्डल, श्रीनदियानन्दन मण्डल, श्रीप्रमथनाथ मण्डल, श्रीप्रफुल्लचन्द्र मण्डल, श्रीहरिपद मण्डल और श्रीसुस्थिर मण्डल आदिके नाम विशेष उल्लेख योग्य है।

धर्म-सभाएँ

सारसाजोलमें श्रील आचार्यदेव प्रचार-संघके साथ सात दिन ठहरे। सातों दिन शामको उनके सभापतित्वमें धर्म-सभाओंका आयोजन हुआ। उनके आदेशसे प्रचारक-संघके विभिन्न वक्ताओंने भाषण दिया। नीचे उसका दैनन्दिन विवरण दिया जा रहा है—

१२ अप्रैल—

पूज्यपाद त्रिविक्रम महाराज—ये लगभग चार वर्ष पूर्व इस ग्राममें श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिकी ओर से सबसे पहले प्रचारके लिये पधारे थे। इन्होंने आज के दिन तत्कालिन और वर्तमान अवस्थाके वैशिष्ट्योंका उल्लेख कर सुन्दर उपदेश पूर्ण भाषण दिया।

श्रीपाद रोहिणीनन्दन ब्रजवासी—इन्होंने अपने भाषणके बीच-बीचमें महाजन पदावलियोंका सुन्दर स्वरपूर्वक कीर्तन कर भागवतके सुगम्भीर सिद्धान्तों को सरल-सहजरूपमें समझा कर श्रोताओंको मुग्ध कर दिया।

श्रील गुरुदेव—शास्त्र किसे कहते हैं? तथा लोगों का आचार विचार कैसा होना चाहिये?—इसके सम्बन्धमें बड़ा ही प्रभावोत्पादक और मर्मस्पर्शी भाषण दिया। इस भाषणमें उन्होंने मद्य-मांस-मछली, धूमपान आदिके निषेधके पक्षमें आकाट्य युक्तियों और अनेक शास्त्रीय प्रमाणोंकी अवतारणा की। उनके इस भाषणका गाँववालों पर बड़ा ही व्यापक प्रभाव पड़ा। दूसरे दिनसे वहाँके अधिकांश लोग मद्य-माँस-मछली और धूमपानका सदाके लिये वर्जन कर दिया तथा श्रील आचार्य देवके चरणोंमें आश्रय लेकर भगवद्भजन करनेका दृढ़ संकल्प कर लिया।

१३ अप्रैल—

श्रीपाद मधुसूदन विद्यानिधि—इन्होंने बड़े ही आवेशमें भर कर बड़ा ही प्रभावोत्पादक भाषण दिया। इन्होंने कहा—"पहले-पहल वैष्णव धर्मके सम्बन्धमें मेरी बड़ी बुरी धारणा थी। परन्तु श्री-गौड़ीय वेदान्त समितिके सम्पर्कमें आने पर मेरी गलत धारणा सम्पूर्णरूपसे दूर हो गयी। अब तो मेरी ऐसी धारणा है कि वैष्णवजन ही जगत्में उच्चतम शिक्षित एवं भद्र हैं। श्रीमद्भागवत भी ऐसा ही कहते हैं—"यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना, सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः। हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणाः मनोरथेनासति धावतो बहि॥" अर्थात् भगवान्के चरणोंमें अकिंचना भक्तिवाले महत्जनोंमें ही सभी सद्गुणोंका निवास होता है; असत्कार्योंमें सब समय अपने मनको दौड़ानेवाले कृष्णभक्तिरहित व्यक्तियोंमें महत्गुणोंकी संभावना कहाँ? उन्होंने—"तीर्थजल पवित्र गुणे, लिखियाछे पुराणे, से सब भक्तिर प्रवञ्चन। वैष्णवेर पादोपक, सम नहे एइ सब, याते हय बांछित पूरण॥"—इस महाजन पदावलीका बारम्बार उल्लेख कर वैष्णव-सेवाकी सार्थकता और प्रयोजनीय पर बल दिया। उन्होंने और भी कहा कि आजकल हिन्दू और मुसलमानमें आहार, विहार, पोषाक-परिच्छद आदिमें कुछ भी अन्तर नहीं दिख पड़ता। अधिकांश हिन्दूलोग मुसलमानोंकी भाँति माँस आदि भोजन करते हैं तथा लुङ्गी पहनते हैं। यहाँ तक कि ऐसा कोई भी अनाचार ऐसा नहीं है जिसे केवल मुसलमान ही करते हैं—हिन्दू नहीं कहते। श्रीमद्भागवतमें ऐसा कहा गया है—"आहार शुद्धौ स्वत्त्वशुद्धिः,स्वत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः।"—ऐसा विचार नहीं होनेसे धर्मयाजन करना ही व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त उन्होंने समस्त

प्रकारकी पूजाओंमें भगवान्‌कृष्णकी पूजा या उपासनाको शास्त्रीय प्रमाणोंकी अवतारणाकर सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित किया।

श्रीपाद हरिहर ब्रह्मचारी--श्रीमन्महाप्रभु ही स्वयं-भगवति हैं।

श्रीपाद कृष्णकृपा ब्रह्मचारी—मनुष्य जन्मकी सार्थकता।

श्रीपाद चिद्‌घनानन्द ब्रह्मचारी—श्रीकृष्णनाम का महत्व।

पूज्यपाद नारायण महाराज—मनुष्यका आदर्श क्या होना चाहिये ? आदर्श किसे कहते हैं ?

श्रील आचार्यदेव—सुर और असुरका पार्थक्य।

१४ अप्रैल—

श्रीपाद भगवानदास ब्रह्मचारी—'जीवके प्रति प्रेम' और "जीव-सेवा"की भावनाओंकी निरर्थकता।

पूज्यपाद त्रिविक्रम महाराज—वर्तमान शिक्षा कैसी होनी चाहिये ? श्रील आचार्य देव—'कीर्तन साधन' के सम्बन्धमें ऐतिह्यपूर्ण शास्त्रीय विचार।

१५ अप्रैल—

श्रीपाद चिद्‌घनानन्द ब्रह्मचारी—हरिभजनका महत्व।

पूज्यपाद त्रिविक्रम महाराज--भगवत् सेवा किसे कहते हैं ?

पूज्यपाद नारायण महाराज—श्रीकृष्ण ही एकमात्र परमतत्त्व हैं। (हिन्दी भाषामें)

श्रील आचार्यदेव--ब्रह्ममें लयप्राप्त होना या ब्रह्म होना--शास्त्रयुक्ति संगत नहीं है।

१६ अप्रैल—

श्रीपाद वृन्दावनविहारीदास ब्रह्मचारी--सदाचार और भक्ति।

श्रीपाद गजेन्द्रमोचन ब्रह्मचारी--शास्त्रीय चार-सम्प्रदायोंके विचार।

श्रील आचार्यदेव--ईश्वर साकार हैं—निराकार नहीं।

१७ अप्रैल—

पूज्यपाद त्रिविक्रम महाराज—श्रीमद्‌भागवतसे अजामिल उपाख्यान-पाठ

१८ अप्रैल—

श्रीपाद रोहिणीनन्दन ब्रजवासी—श्रीमद्‌भागवत अनुशीलनकी आवश्यकता।

श्रीपाद भगवानदास ब्रह्मचारी—जीव बद्धदशा से कैसे छुटकारा पा सकता है ?

श्रील आचार्यदेव—निराकारवाद नास्तिकता और पाषण्डता है।

आज श्रील आचार्यदेवने अपने भाषणके अंतमें उपसंहार स्वरूप ग्रामवासियोंके लिये एक संक्षिप्त वक्तव्य प्रदान कर विदाई ग्रहण की। सारसाजोलमें ठहरनेका आज हमारा अन्तिम दिन था।

"यहाँ अनेक अनुगत और श्रद्धालु श्रोता मिले हैं। आप सभी बड़े सौभाग्यवान हैं। आजतक मैं किसी भी गाँव या शहरमें धर्म-प्रचारके लिये सात दिन नहीं ठहरा। परन्तु आपलोग मुझे आकर्षणकर यहाँ इतने दिन रख सके हैं। कल श्रीयुक्त गोपाल बाबू हमलोगोंको अपने गाँव—राजबाँधमें आकर्षण करके ले जा रहे हैं। आपलोग सर्वदा शास्त्र-कथाओं का कीर्तन करेंगे। हरिकीर्तन ही मानव जीवनका एकमात्र उद्देश्य होना चाहिये। यदि मैं अपनी किसी बातसे किसीको चोट पहुँचाया होऊँ तो उसे कृष्ण सेवाके उद्देश्यसे ही समझना चाहिये। निष्कपट-शास्त्र-वाणीका कीर्तन करना ही हमारा धर्म है। सत्य अप्रिय होने पर भी उसे छिपाना हमारा धर्म नहीं है।

(क्रमशः)

—निजस्व सम्वाददाता